जातिभेद का उच्छेद

डाक्टर बी. आर. आम्बेडकर

प्रकाशक—
श्रीयुत सन्तराम, बी० ए०
जात-पाँत तोड़क मण्डल,
लाहौर।

मुद्रक—
श्रीयुत साहिब दित्तामल,
जगजीत इलेक्ट्रिक प्रेस,
मोहनलाल रोड, लाहौर।

प्राक्कथन

कुछ वर्ष हुए अछूतों के प्रसिद्ध नेता विद्वद्वर डाक्टर भीमराव आम्बेडकर ने हिन्दू-समाज से दुखी हो कर घोषणा की थी कि यद्यपि मैं हिन्दू पैदा हुआ हूँ, परन्तु मैं हिन्दू नहीं मरूँगा। उस समय उन्होंने अपने दूसरे अछूत भाइयों को भी यही परामर्श दिया था कि तुम्हारा कल्याण हिन्दू-समाज का परित्याग कर के किसी दूसरे धर्म की शरण लेने में ही है। डाक्टर महोदय की इस वज्र घोषणा से धार्म्मिक जगत में भारी तहलका मच गया था। कुम्भकर्ण की निद्रा में सोए हुए हिन्दू-समाज ने भी एक बार आँखें खोल दी थीं।

ऐसे ही समय में, सन् १९३६ में, जात-पाँत तोड़क मण्डल ने एक बृहद् सम्मेलन कर के डाक्टर महोदय को उस के सभापति के आसन पर बैठाने का निश्चय किया। डाक्टर महोदय ने मण्डल की प्रार्थना को कृपापूर्वक स्वीकार भी कर लिया। मण्डल को पूर्ण आशा थी कि सभापति के आसन से डाक्टर महोदय जो भाषण करेंगे उस में हिन्दू-समाज की महा व्याधि का ठीक ठीक निदान मिलेगा। परन्तु खेद है कि अनेक कारणों से वह सम्मेलन न हो सका। किन्तु उस सम्मेलन के लिए डाक्टर महोदय ने जो अभि-भाषण तैयार किया वह इतना सारगर्भित, इतना मार्मिक और इतना विद्वत्ता-पूर्ण था कि यदि हिन्दू-समाज उस पर शान्त भाव से विचार करे तो, कटु औषध के समान, वह उस की महा-व्याधि को अवश्य दूर कर सकता है। आप के उसी अभिभाषण का हिन्दी भाषान्तर यह पुस्तक है। जाति-भेद की बुराइयों को दिखलाने वाला इस से उत्तम प्रबन्ध दूसरा मिलना कठिन है। मुझे आशा है, हिन्दू-समाज के हितैषी इस से लाभ उठाने का यत्न अवश्य करेंगे।

सन्तराम

विषय-सूची

जातिभेद का उच्छेद

१

सामाजिक सुधार बनाम राजनीतिक सुधार

सामाजिक सुधार का मार्ग, कम से कम भारत में, मोक्ष-मार्ग के सदृश, अनेक कठिनाइयों से भरा पड़ा है। भारत में समाज-सुधार के मित्र थोड़े और समालोचक बहुत हैं। समालोचकों की दो श्रेणियाँ है। एक श्रेणी तो राजनीतिक सुधारकों की है और दूसरी साम्यवादियों की।

एक समय था जब सब कोई यह स्वीकार करता था कि सामाजिक निपुणता के बिना किसी भी दूसरे क्षेत्र में स्थायी उन्नति सम्भव नहीं। तब लोग यह भी मानते थे कि कुरीतियों द्वारा पहुँची हुई हानि के कारण हिन्दू-समाज में सामाजिक दक्षता नहीं रही, इसलिए इन कुरीतियों के मूलोच्छेदन के लिए निरन्तर प्रयत्न होना चाहिए। इस सचाई को स्वीकार कर लेने के ही कारण राष्ट्रीय काँग्रेस के जन्म के साथ-साथ सोशल कान्फरेन्स की भी नींव रखी गयी थी। काँग्रेस देश के राजनीतिक सङ्गठन की कमज़ोरियाँ दिखलाती थी, और सोशल कान्फरेन्स हिन्दू-समाज के सामाजिक सङ्गठन की कमज़ोरियों को दूर करने का यत्न करती थी। कुछ काल तक काँग्रेस और

कान्फरेन्स दोनों एक ही कार्य के दो अङ्गों की तरह मिलकर काम करती रहीं। दोनों का वार्षिक अधिवेशन एक ही पण्डाल में होता था। परन्तु जल्दी ही दो दल पैदा हो गये--एक राजनीतिक सुधार-दल और दूसरा समाज-सुधार दल। दोनों में प्रचण्ड विवाद छिड़ गया। राजनीतिक सुधार दल राष्ट्रीय कॉंग्रेस का समर्थन करता था और समाज-सुधार दल सोशल कान्फरेन्स का। इस प्रकार दोनों संस्थायें एक-दूसरे के विरोधी दल बन गयीं। विवादास्पद विषय था कि क्या राजनीतिक सुधार के पहले सामाजिक सुधार आवश्यक है। कोई दस वर्ष तक दोनों शक्तियाँ बराबर-बराबर तुली रहीं, कोई भी दल दूसरे को दबा न सका। परन्तु यह बात स्पष्ट दीख रही थी कि सोशल कान्फरेन्स का भाग्य-नक्षत्र शीघ्रता से अस्त हो रहा है।

जो लोग सोशल कान्फरेन्स के अधिवेशनों के प्रधान बनते थे, वे शिकायत करते थे कि अधिकांश सुशिक्षित हिन्दू राजनीतिक प्रगति चाहते हैं और समाज-सुधार के प्रति उदासीन हैं। कॉंग्रेस में भाग लेने वालों की संख्या बहुत अधिक होती थी। उस से सहानुभूति रखने वालों की संख्या उन से भी अधिक थी। परन्तु सोशल कान्फरेन्स में सम्मिलित होने वालों की संख्या इन से बहुत ही कम होती थी। जनता की इस उदासीनता के शीघ्र ही बाद राजनीतिकों ने खुल्लम खुल्ला सामाजिक सम्मेलन का विरोध आरम्भ कर दिया। कॉंग्रेस पहले सामाजिक सम्मेलन के लिए अपना पण्डाल दिया करती थी। परन्तु अब श्री बाल गङ्गाधर तिलक के विरोध करने पर कॉंग्रेस ने अपना पण्डाल देना भी बन्द कर दिया। शत्रुता का

भाव यहाँ तक बढ़ा कि जब सामाजिक सम्मेलन ने अपना अलग पण्डाल खड़ा करना चाहा, तो उस के विरोधियों ने उसे जला डालने की धमकी दे दी। इस प्रकार कालान्तर में राजनीतिक सुधार के पक्षपातियों का दल जीत गया और सामाजिक सम्मेलन (सोशल कान्फरेन्स) निरोहित हो कर विस्मृत हो गया। सन् १८६२ में मि० डब्ल्यू० सी० बनर्जी इलाहाबाद में काँग्रेस के आठवें अधिवेशन के प्रधान हुए थे। उन्हों ने उस समय जो भाषण दिया था, वह एक प्रकार से सोशल कान्फरेन्स का अन्त्येष्टि-भाषण था। आप के शब्द थे:—

"मैं उन लोगों के साथ सहमत नहीं हूँ जो कहते हैं कि जब तक हम अपनी सामाजिक पद्धति का सुधार नहीं करते, तब तक हम राजनीतिक सुधार के योग्य नहीं हो सकते। मुझे इन दोनों के बीच कोई सम्बन्ध नहीं दीखता।...क्या हम (राजनीतिक सुधार के लिए) इस लिए योग्य नहीं हैं, क्योंकि हमारी विधवाओं का पुनर्विवाह नहीं होता और दूसरे देशों की अपेक्षा हमारी लड़कियाँ छोटी उम्र में ब्याह दी जाती हैं? या हमारी पत्नियाँ और पुत्रियाँ हमारे साथ गाड़ी में बैठ-कर हमारे मित्रों से मिलने नहीं जातीं? या क्यों कि हम अपनी बेटियों को आक्सफोर्ड और केम्ब्रिज नहीं भेजते? (हर्षध्वनि)।"

उस समय अनेक ऐसे लोग थे और अब भी हैं, जो इस विषय में काँग्रेस की जीत देख कर प्रसन्न थे। परन्तु जो लोग सामाजिक सुधार के महत्व में विश्वास रखते हैं, वे पूछ सकते हैं कि क्या मिस्टर बनर्जी की बात का कोई उत्तर नहीं? क्या इस से सिद्ध होता है कि विजय उन्हीं की हुई, जो सच्चे थे? क्या

इस से पूर्णतः सिद्ध हो जाता है कि सामाजिक सुधार का राजनीतिक सुधार से कुछ सम्बन्ध नहीं ? आइये, तनिक इस दृष्टि से अछूतों के प्रति सवर्ण हिन्दुओं के व्यवहार पर विचार करें। इस से इस विषय को समझने में सहायता मिलेगी।

पेशवाओं के शासन-काल में, महाराष्ट्र देश में, यदि कोई सवर्ण हिन्दू सड़क पर चल रहा हो तो अछूत को वहाँ चलने की आज्ञा नहीं होती थी, ताकि कहीं उसकी छाया से वह हिन्दू भ्रष्ट न हो जाय। अछूत को अपनी कलाई पर या गले में निशानी के तौर पर एक काला डोरा बाँधना पड़ता था, ताकि हिन्दू उसे भूल से स्पर्श न कर बैठे। पेशवाओं की राजधानी पूना में अछूतों के लिए राजाज्ञा थी कि वे कमर में झाड़ू बाँध कर चलें। चलने से भूमि पर उनके पैरों के जो चिह्न बनें, उनको उस झाड़ू से मिटाते जायँ, ताकि कोई हिन्दू उन पदचिह्नों पर पैर रखने से अपवित्र न हो जाय। पूना में अछूत को गले में मिट्टी की हाँडी लटका कर चलना पड़ता था, ताकि उसे थूकना हो तो उस में थूके; क्योंकि भूमि पर थूकने से यदि उसके थूक पर किसी हिन्दू का पाँव पड़ गया, तो वह अपवित्र हो जायगा।

मध्य भारत में बलाई नाम की एक अछूत जाति रहती है। उसका कुछ वर्णन ४ जनवरी १९२८ के "टाइम्ज़ आव इण्डिया" में छपा था। पत्र के संवाददाता ने लिखा था कि सवर्ण हिन्दुओं ने अर्थात् कालोटों, राजपूतों और ब्राह्मणों ने, जिनमें ज़िला इन्दौर के कनारिया, बिचोली हफसी, बिचोली मरदाना और लगभग १५ दूसरे गाँवों के पटेल और पटवारी भी थे, अपने अपने गाँव के बलाइयों को सूचना दी कि यदि तुम हम में रहना चाहते हो, तो तुम्हें निम्न-

लिखित आज्ञायें माननी पड़ेंगी :—(१) बलाई तिलाई पगड़ी नहीं बाँधेंगे। (२) वे रङ्गीन या सुन्दर किनारे वाली धोतियाँ नहीं पहनेंगे। (३) वे किसी हिन्दू का मृत्यु-समाचार उसके संबन्धियों को पहुँचायेंगे, चाहे वे सम्बन्धी कितनी ही दूर क्यों न रहते हों। (४) हिन्दुओं के विवाह में बरात के आगे आगे बलाई बाजा बजाते हुए चलेंगे। (५) बलाई स्त्रियाँ सोने-चाँदी के गहने नहीं पहनेंगी; वे सुन्दर घाँघरे और जाकेट नहीं पहनेंगी। (६) बलाई स्त्रियां हिन्दू स्त्रियों की प्रसूती में उनकी सेवा करेंगी। (७) बलाई हिन्दुओं की सेवा करेंगे और इसके लिये कोई पारिश्रमिक नहीं माँगेंगे; हिन्दू अपने-आप जो कुछ उन्हें दे दें, उसी पर वे सन्तुष्ट हो जायँगे। (८) यदि बलाइयों को ये बातें स्वीकार न हों, तो वे गाँव छोड़ कर चले जायँ। बलाइयों ने इन आज्ञाओं को मानने से इनकार कर दिया; और हिन्दुओंने उनका विरोध शुरू किया। बलाइयों को गाँव के कुओं से पानी भरने और अपने पशु चराने से रोक दिया गया। बलाइयों को हिन्दुओं की भूमि में से होकर जाने से मना कर दिया गया। इसलिए यदि बलाई के खेत के इर्द-गिर्द हिन्दुओं के खेत हों, तो बलाई अपने खेत में नहीं जा सकता था। हिन्दुओं ने अपने पशु बलाइयों के खेतों में छोड़ दिये। बलाइयों ने इस अत्याचार के विरुद्ध इन्दौर-दरबार में आवेदन-पत्र दिये। परन्तु उनको ठीक समय पर सहायता न मिल सकी और अत्याचार उसी प्रकार जारी रहा। इसलिए सैकड़ों बलाइयों को, स्त्री-बच्चों सहित उन घरों को छोड़कर, जहाँ उनके बाप-दादा पीढ़ियों से रहते आये थे, धार, देवास, बागली, भोपाल, ग्वालियर और दूसरे निकटवर्ती राज्यों के गाँवों में चला जाना

पड़ा। उनके नये घरों में उनके साथ कैसी बीती, इसका वर्णन करना यहाँ ठीक नहीं।

गुजरात के अन्तर्गत कविथा ग्राम की दुर्घटना अभी पिछले साल की ही बात है। कविथा के हिन्दुओं ने अछूतों को आज्ञा दी कि तुम गाँव के सरकारी स्कूल में अपने बच्चों को भेजने का आग्रह मत करो। सवर्ण हिन्दुओं की इच्छा के विरुद्ध अपने नागरिक अधिकार के उपयोग करने का साहस करने के लिए बेचारे अछूतों को कितना कष्ट सहन करना पड़ा, यह सब कोई जानता है। इसका वर्णन करने की यहाँ आवश्यकता नहीं। गुजरात के अहमदाबाद जिले के जनू नामक गाँव की एक घटना सुनिये। नवम्बर सन् १९३५ में वहाँ के कुछ खाते पीते अछूत परिवारों की स्त्रियों ने धातु के बासनों में पानी लाना शुरू किया। अछूतों द्वारा धातु के बासनों के उपयोग को सवर्ण हिन्दुओं ने अपना अपमान समझा और अछूत स्त्रियों की ढिठाई के लिए उन पर हल्ला बोल दिया।

जयपुर राज्य के चकवारा गाँव की एक हाल की घटना है। वहाँ के कुछ अछूतों ने तीर्थ-यात्रा से लौटकर गाँव के अछूत भाइयों को भोज देने का प्रबन्ध किया। उन्होंने घी के पकवान बनाये। परन्तु जब अभी अछूत लोग भोजन कर ही रहे थे कि हिन्दू लोग लाठियाँ लिये हुए सैकड़ों की संख्या में वहाँ आ धमके। उन्होंने उनके भोजन को खराब कर दिया और खाने वालों को पीटा। वे बेचारे जान बचाकर भाग गये। इन निहत्थे अछूतों पर यह घातक आक्रमण क्यों किया गया? इसका उत्तर यह दिया गया कि क्योंकि अछूत आतिथ्य-दाता ने घी के पकवान बनाने

की ढिठाई की थी और उसके अतिथियों ने अछूत होकर घी खाने की मूर्खता की थी। इसमें सन्देह नहीं कि घी केवल धनी लोग ही खा सकते हैं। परन्तु आज तक यह कोई भी नहीं समझता था कि घी खाना भी कोई बड़प्पन का निशान है। चकवारा के सवर्ण हिन्दुओं ने प्रकट कर दिया कि अछूतों को घी खाने का कोई अधिकार नहीं, चाहे वे खरीद भी सकते हों; क्योंकि इससे हिन्दु ों की गुस्ताखी होती है। यह १ ली अप्रैल सन् १९३६ या उसके लगभग की घटना है।

इन घटनाओं के वर्णन के बाद अब सामाजिक सुधार का पक्ष सुनिये। इसमें हम मि० बनर्जी की युक्ति को ही लेकर राजनीतिक हिन्दुओं से पूछते हैं —"अछूतों-जैसी अपने देश की एक बड़ी श्रेणी को सार्वजनिक स्कूलों के उपयोग की आज्ञा न देते हुए भी क्या आप राजनीतिक शक्ति पाने के योग्य हैं ? उनको सार्वजनिक कुओं के उपयोग की आज्ञा न देते हुए भी क्या आप राजनीतिक शक्ति पाने के योग्य हैं ? उनको सार्वजनिक बाज़ारों और गलियों का उपयोग करने से रोकते हुए भी क्या आप राजनीतिक शक्ति पाने के योग्य हैं ? उनको अपनी पसन्द के अनुसार गहना और कपड़ा पहनने से रोकते हुए भी क्या आप स्वराज्य पाने के योग्य हैं ? उनको उनकी पसन्द का भोजन करने से रोकते हुए भी क्या आप राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने के अधिकारी हैं ?" ऐसे ही और बीसियों प्रश्न पूछे जा सकते हैं, परन्तु हमारे मतलब के लिए इतने ही पर्याप्त हैं। आश्चर्य है कि मिस्टर बनर्जी यदि आज जीते होते, तो उनके पास इनका क्या उत्तर होता ! निश्चय ही कोई भी समझदार मनुष्य इनके उत्तर में 'हाँ' नहीं

कह सकता । प्रत्येक कांग्रेसी मनुष्य को, जो मिल साहब के इस सिद्धान्त की रट लगाता है कि एक देश को दूसरे देश पर शासन करने का अधिकार नहीं, यह भी मानना पड़ेगा कि एक श्रेणी को दूसरी श्रेणी पर शासन करने का अधिकार नहीं ।

तब सामाजिक सुधार दल की हार कैसे हुई ? इस को समझने के लिए हमें इस बात पर ध्यान देने की ज़रूरत है कि उस समय सुधारक लोग किस प्रकार के सामाजिक सुधार के लिए आन्दोलन कर रहे थे । यहाँ यह बता देना अनावश्यक न होगा कि सामाजिक सुधार के दो अर्थ हैं । एक तो हिन्दू-परिवार का सुधार और दूसरा हिन्दू-समाज की पुनर्रचना और पुनःसङ्गठन । इन में से प्रथमोक्त का सम्बन्ध विधवा-विवाह, बाल-विवाह आदि से है और शेषोक्त का वर्ण-भेद के मिटाने के साथ । सोशल कान्फरेन्स एक ऐसी संस्था थी, जिसने अपना सम्बन्ध अधिकतर हिन्दू-परिवार के सुधार के साथ ही रखा था । इस में अधिकांश ऊँचे वर्णों के ही हिन्दू थे, जिन्हें वर्ण-भेद को मिटाने के लिए आन्दोलन करने की आवश्यकता का अनुभव ही न होता था या जिन में इस आन्दोलन को करने का साहस ही न था । उनको स्वभावतः लड़कियों को विधवा रहने पर मजबूर न करने, बाल-विवाह आदि बुराइयों को दूर करने की अधिक ज़रूरत मालूम होती थी, क्योंकि वे उन में प्रचलित थीं और व्यक्तिगत रूप से उनको दुःख दे रही थीं । वे हिन्दू-समाज के सुधार का यत्न नहीं करते थे । परिवार के सुधार के प्रश्न पर ही सारा युद्ध हो रहा था । जात-पाँत तोड़ने के अर्थों में सामाजिक सुधार के साथ इसका कोई सम्बन्ध न था । सुधारकों ने इस प्रश्न को कभी बीच मे आने ही नहीं दिया । यही कारण है, जिस से सामाजिक सुधार-दल हार गया ।

इस से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह विचार कि राजनीतिक सुधार के पहले सामाजिक सुधार का होना आवश्यक नहीं केवल वहाँ तक ही ठीक है जहाँ तक कि परिवार के सुधार का सम्बन्ध है। समाज के पुनर्निर्माण के अर्थों में सामाजिक सुधार के पूर्व राजनीतिक सुधार सम्भ नहीं, इस बात का खण्डन करना कठिन है। साम्यवाद के जन्मदाता कार्ल मार्क्स के मित्र और सहकारी फर्डिनेण्ड लसले जैसे विचारक को भी कहना पड़ा है कि राजनीतिक संस्थाओं का सामाजिक शक्तियों पर ज़रूर विचार करना चाहिए। सन् १८८२ में प्रशियन श्रोताओं में भाषण करते हुए लसले (La-salle) ने कहा था :—"शासन-पद्धति-सम्बन्धी प्रश्न (Constitutional questions) मुख्यत: अधिकार के प्रश्न नहीं, वरन् शक्ति के प्रश्न होते हैं। किसी देश की वास्तविक शासन-पद्धति का अस्तित्व उस देश में पायी जानेवाली शक्ति की वास्तविक दशा में ही होता है। इसलिए राजनीतिक रचनाओं का मूल्य और स्थिरता तभी होती है, जब वे समाज में कार्यत: विद्यमान् शक्तियों की अवस्थाओं को ठीक ठीक प्रकट करती हैं।"

परन्तु लसले के पास जाने की आवश्यकता नहीं। हमें घर में ही इसकी साक्षी मिल जाती है। इस साम्प्रदायिक बँटवारे (कम्यूनल अवार्ड) का क्या आशय है, जिसने राजनीतिक शक्ति को विभिन्न श्रेणियों और समाजों में निश्चित अनुपातों में बाँट दिया है ? मेरी राय में इसका आशय यही है कि राजनीतिक शासन-पद्धति को सामाजिक सङ्गठन का अवश्य ध्यान रखना होगा। यह बँटवारा दिखलाता है कि जिन राजनीतिज्ञों ने इस बात को मानने से इनकार कर दिया था कि भारत में सामाजिक प्रश्न

का राजनीतिक समस्या से भारी सम्बन्ध है, उन्हें शासन-विधान तैयार करने में सामाजिक प्रश्न के साथ भी हिसाब चुकाने पर विवश होना पड़ा। कहें तो कह सकते हैं कि साम्प्रदायिक बँटवारा सामाजिक सुधार की उपेक्षा और उसके प्रति उदासीनता दिखाने का फल है। यह सामाजिक सुधार-दल की विजय है, जो दिखलाती है कि यद्यपि वे हार गये थे, तो भी उनका सामाजिक सुधार की महत्ता पर ज़ोर देना ठीक ही था। सम्भव है, अनेक सज्जन मेरे इस परिणाम के साथ सहमत नहीं होंगे। यह विचार लोगों में फैल रहा है और इसे मान लेने में आनन्द भी आता है कि साम्प्रदायिक बँटवारा अस्वाभाविक है और यह अल्प संख्याओं और नौकरशाही (bureaucracy) के बीच एक अपवित्र सन्धि है।

इतिहास इस बात का समर्थन करता है कि राजनीतिक क्रान्तियों के पहले सदा ही सामाजिक और धार्मिक क्रान्तियाँ होती रही हैं। लूथर द्वारा जारी किया हुआ धार्मिक संस्कार यूरोपीय लोगों के राजनीतिक उद्धार का पूर्व लक्षण था। इँग्लेण्ड में प्यूरीटिनिज्म (Puritinism) राजनीतिक स्वतन्त्रता की स्थापना का कारण हुआ। प्यूरीटिनिज्म ने नये संसार की नींव रखी। प्यूरीटिनिज्म ने ही अमेरिकन स्वतन्त्रता का युद्ध जीता। यह प्यूरीटिनिज्म एक धार्मिक आन्दोलन था। यह बात मुसलिम साम्राज्य के विषय में भी सत्य है। अरबों के राजनीतिक शक्ति बनने के पहले, हज़रत मुहम्मद उनमें एक पूर्ण धार्मिक क्रान्ति उत्पन्न कर चुके थे। भारतीय इतिहास भी इस परिणाम का समर्थन करता है। चन्द्रगुप्त की चलायी हुई राजनीतिक क्रान्ति से

बहुत पहले भगवान बुद्ध धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति पैदा कर चुके थे। महाराष्ट्र के साधु-महात्माओं द्वारा सामाजिक और धार्मिक सुधार के बाद ही शिवाजी राजनीतिक क्रान्ति ला सके थे। सिक्खों की राजनीतिक क्रान्ति के पूर्व गुरु नानक सामाजिक और धार्मिक क्रान्ति पैदा कर चुके थे। और अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं। यह दिखलाने के लिये इतने ही उदाहरण पर्याप्त हैं कि किसी जाति के राजनीतिक विस्तार के लिए पहले उसकी आत्मा और बुद्धि का उद्धार होना परम आवश्यक है।

२

साम्यवाद और वर्ण-भेद

भारत का साम्यवादी दल वर्ण-भेद को मिटा कर सामाजिक समता लाने के बजाय सारा बल आर्थिक समता पर ही दे रहा है। वह सामाजिक अवस्था से उत्पन्न होने वाली समस्याओं की उपेक्षा करना चाहता है। पर क्या ऐसा करना उस के लिए सम्भव है? भारत के साम्यवादी, योरप के साम्यवादियों के अनुकरण मे, इतिहास का आर्थिक अर्थ भारत की अवस्थाओं पर लागू करने का यत्न कर रहे हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य एक आर्थिक प्राणी है, उस की चेष्टाएँ और आकांक्षाएँ आर्थिक तथ्यों से बँधी हुई हैं। उन के मत से सम्पत्ति ही एक मात्र शक्ति है। इस लिए वे प्रचार करते हैं कि राजनीतिक और सामाजिक सुधार भारी भ्रम मात्र हैं, और किसी भी दूसरे सुधार के पूर्व साम्पत्तिक समता द्वारा आर्थिक सुधार का होना परमावश्यक है। जिन बातों

का आधार ले कर साम्यवादी लोग कहते हैं कि किसी भी प्रकार के दूसरे सुधारों के पूर्व आर्थिक सुधार होना आवश्यक है, उनमें से प्रत्येक का खण्डन किया जा सकता है। क्या एक मात्र आर्थिक उद्देश्य से ही मनुष्य सब काम करता है ? साम्पत्तिक शक्ति ही एक मात्र शक्ति है, इस बात को मानव-समाज का अध्ययन करने वाला कोई भी मनुष्य मानने को तैयार नहीं।

साधु-महात्माओं का सर्वसाधारण पर जो शासन होता है, वह इस बात को स्पष्ट कर देता है कि व्यक्ति की सामाजिक स्थिति भी बहुधा शक्ति और अधिकार का कारण बन जाती है। भारत में करोड़ों लोग कङ्गाल साधुओं और फ़कीरों की आज्ञा क्यों मानते हैं ? भारत के करोड़ों कङ्गाल अपना अँगूठी-छल्ला बेच कर भी काशी और मक्का क्यों जाते हैं ? भारत का इतिहास दिखलाता है कि मज़हब एक बड़ी शक्ति है। भारत में सर्व साधारण पर पुरोहित का शासन मजिस्ट्रेट से भी बढ़ कर होता है। यहाँ प्रत्येक बात को, यहाँ तक कि हड़तालों और कौंसिलों के चुनाव को भी, बड़ी आसानी से मज़हबी रङ्गत मिल जाती है। मज़हब का मनुष्य पर कितना प्रभुत्व रहता है, इस का एक उदाहरण रोम के प्लीबियन हैं। उनके उदाहरण से इस विषय पर बड़ा भारी प्रकाश पड़ता है। रोमन प्रजातन्त्र के अधीन उच्च शासनाधिकार में भाग प्राप्त करने के लिए प्लब लोगों ने युद्ध किया था, जिस से उन को एक प्लीबियन प्रतिनिधि भेजने का अधिकार मिल गया था। इस प्रतिनिधि को प्लीबियनों की कोमिटिया सेण्टूरिएटा नाम की एक समिति चुनती थी। वे अपना कौंसिल (प्रतिनिधि) इस लिए चाहते थे

क्योंकि वे अनुभव करते थे कि पेटरीशियन कौंसिल शासन-कार्य में प्लीबियनों के साथ द्वैतभाव रखते हैं। बाहर से देखने पर उन्हों ने बड़ा लाभ प्राप्त कर लिया था, क्योंकि रोम की प्रजा-तन्त्री शासन-पद्धति में एक कौंसिल को दूसरे कौंसिल के कार्य को रद्द कर देने का अधिकार था। परन्तु क्या वास्तव में भी उनको कुछ लाभ था ? इसका उत्तर नकार में है। प्लीबियन लोगों को कभी कोई ऐसा प्लीबियन प्रतिनिधि न मिल सका, जिसे बलवान मनुष्य कहा जा सकता और जो पेटरीशियन प्रति-निधि से स्वतन्त्र रह कर कार्य कर सकता। साधारण रीति से प्लीबियनों को एक बलवान प्लीबियन प्रतिनिधि मिलना चाहिए था, क्योंकि उसका चुनाव प्लीबियन लोग खुद अपने में से करते थे। प्रश्न यह है कि उनको कभी कोई बलवान प्लीबियन क्यों न मिल सका, जो उनका प्रतिनिधित्व करता ? इस प्रश्न का उत्तर प्रकट करता है कि धर्म का मनुष्यों के मन पर कितना शासन है।

समूची रोमन जनता का यह सर्वसम्मत विश्वास था कि कोई भी अफ़सर तब तक किसी पद को ग्रहण नहीं कर सकता, जब तक कि डेल्फी की देव-वाणी इस बात की घोषणा न कर दे कि देवी उसको स्वीकार करती है। डेल्फी की देवी के पुरोहित सब पेटरी-शियन थे। इस लिए जब कभी प्लीबियन ऐसे मनुष्य को प्रति-निधि बनाते थे, जिसके विषय में पता हो कि यह पेटरीशियन के विरुद्ध कट्टर पार्टीमैन, या भारत में प्रचलित परिभाषा में "कम्यूनल" (साम्प्रदायिक) है, तो देव-वाणी सदा विघोषित कर देती थी कि देवी उसे स्वीकार नहीं करती। इस प्रकार धोखे से प्लीबियनों के अधिकार छीन लिए जाते थे। परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि प्लीबियन लोग अपने साथ यह ठगी इस लिए होने देते थे कि पेटरिशियनों

की तरह उन का अपना भी दृढ़ विश्वास था कि किसी अफ़सर के अपने पद का कार्य सँभालने के पहले देवी की स्वीकृति आवश्यक है, लोगों द्वारा उसका चुना जाना ही पर्याप्त नहीं। यदि लीबियन इस बात पर लड़ते कि चुनाव ही पर्याप्त है, देवी की स्वीकृति की कोई आवश्यकता नहीं, तो वे अपने प्राप्त किये हुए राजनीतिक अधिकारों से पूरा-पूरा लाभ उठा लेते। परन्तु उन्हों ने ऐसा नहीं किया। वे दूसरा प्रतिनिधि चुनने पर सहमत हो जाते थे, जो उन के अपने मतलब के लिये तो कम, परन्तु देवी के लिये अधिक योग्य होता था, अर्थात् जो वास्तव में पेटरिशियनों का अधिक अज्ञाकारी होता था। मज़हब को छोड़ने के बदले लीबियनों ने उस लौकिक लाभ को छोड़ दिया, जिस के लिए उन्होंने इतना घोर संग्राम किया था। क्या इस से यह सिद्ध नहीं होता कि मज़हब में यदि सम्पत्ति से अधिक नहीं तो उस के बराबर तो शक्ति अवश्य है?

साम्यवादियों की भूल इस बात में है कि वे मान लेते हैं क्योंकि योरपीय समाज का वर्तमान अवस्था में धन एक प्रधान शक्ति है, इस लिए भारत में भी वह प्रधान शक्ति है या अतीत काल में भी वह प्रधान शक्ति थी। मज़हब, सामाजिक स्थिति और सम्पत्ति, ये सब शक्ति और प्रभुता के स्रोत हैं। इन से एक मनुष्य दूसरे मनुष्य की स्वतन्त्रता का निग्रह करता है। एक का एक अवस्था में प्राधान्य रहता है, दूसरी का दूसरी अवस्था में। बस, इतना ही अन्तर है। यदि स्वाधीनता आदर्श है और यदि उस स्वाधीनता का अर्थ उस प्रभुता का नाश है, जो एक मनुष्य दूसरे मनुष्य पर रखता है, तब यह स्पष्ट है कि इस बात पर आग्रह नहीं किया जा सकता कि आर्थिक सुधार ही एक मात्र ऐसा सुधार

है, जो करने के योग्य है। यदि किसी विशेष समय में या किसी विशेष समाज में शक्ति और प्रभुता सामाजिक और धार्मिक हो तो सामाजिक सुधार तथा धार्मिक सुधार को आवश्यक सुधार मानना पड़ेगा।

इस प्रकार भारत के साम्यवादियों ने जो इतिहास का आर्थिक अर्थ ग्रहण किया है, इस का खण्डन हो सकता है। परंतु मैं स्वीकार करता हूँ कि साम्यवादियों के इस विवाद की दृढ़ता के लिए कि सम्पत्ति का समीकरण ही एक मात्र वास्तविक सुधार है और यही सब से पहले होना चाहिए, इतिहास का आर्थिक अर्थ आवश्यक नहीं। परन्तु मैं साम्यवादियों से जो बात पूछना चाहता हूँ वह यह है—क्या पहले सामाजिक व्यवस्था का सुधार किये बिना आप आर्थिक सुधार कर सकते हैं? ऐसा जान पड़ता है कि भारत के साम्यवादियों ने इस प्रश्न पर विचार नहीं किया। मैं उन के साथ अन्याय नहीं करना चाहता। मैं यहाँ आगे एक चिट्ठी से उद्धरण देता हूँ जो एक प्रमुख सम्यवादी ने, कुछ मास हुए, मेरे एक मित्र को लिखी थी। उस में उन्हों ने लिखा था—"मेरा विश्वास नहीं कि हम भारत में तब तक किसी स्वतन्त्र समाज का निर्माण कर सकते हैं, जब तक कि एक श्रेणी दूसरी श्रेणी के प्रति इस प्रकार का दुर्व्यवहार करती और उसे दबाती है। साम्यवादी आदर्श में मेरा विश्वास है, इसलिए विभिन्न श्रेणियों और समूहों के व्यावहार में पूर्ण समता में मेरा विश्वास होना अनिवार्य है। मेरी समझ में साम्यवाद ही इस और दूसरी समस्याओं का सच्चा उपाय पेश करता है।"

अब मैं पूछना चाहता हूँ—"क्या साम्यवादी के लिए इतना कह देना ही पर्याप्त है—"मैं विभिन्न श्रेणियों के व्यवहार में पूर्ण

समता में विश्वास करता हूँ ?" यह कहना है कि ऐसा विश्वास ही पर्याप्त है, साम्यवाद के आशय से अपनी पूरी अज्ञता प्रकट करना है। यदि साम्यवाद एक व्यावहारिक कार्य क्रम है और एक दूर का आदर्श मात्र नहीं, तो साम्यवादी के लिए यह प्रश्न नहीं रहता कि वह समता में विश्वास करता है या नहीं। उस के लिए प्रश्न यह है कि क्या वह एक व्यवस्था के तौर पर, एक सिद्धान्त के रूप में, एक श्रेणी के दूसरी श्रेणी के साथ दुर्व्यवहार करने और उसे दबाने की परवा करता है, और इस प्रकार अत्याचार और उत्पात को एक श्रेणी को दूसरी श्रेणी से अलग करते रहने की आज्ञा देता है ? अपनी बात को पूरी तरह से खोल कर समझाने के लिए मैं उन बातों का विश्लेषण करना चाहता हूँ, जिन का साम्यवाद की अनुभूति के साथ सम्बन्ध है।

यह बात स्पष्ट है कि जो आर्थिक क्रान्ति साम्यवादी लोग लाना चाहते है, वह तब तक नहीं आ सकती, जब तक कि किसी क्रान्ति के द्वारा शक्ति हाथ में न ले ली जाय। उस शक्ति को हथियाने वाला ज़रूरी तौर पर सर्वहारा मनुष्य (Proletariat) होगा। तब पहला प्रश्न यह होता है -"क्या भारत का सर्वहारा ऐसी क्रान्ति लाने के लिए इकट्ठा हो जायगा ? इस कार्य के लिए कौन बात उस को प्रेरणा करेगी ? मुझे ऐसा जान पड़ता है कि दूसरी बातें बराबर मान कर, एक मात्र चीज़ जो मनुष्य को ऐसा काम करने कीं प्रेरणा कर सकती है, वह यह भाव है कि जिन दूसरे मनुष्यों के साथ मिल कर वह काम कर रहा है, वे समता, बन्धुता और सब से बढ़ कर न्याय के भाव से प्रेरित हो कर काम कर रहे हैं। सम्पत्ति के सभीकरण के लिए लोग

किसी क्रान्ति में तब तक सम्मिलित नहीं होंगे, जब तक उन्हें यह मालूम नहीं होगा कि क्रान्ति हो चुकने के बाद उन के साथ समता का व्यवहार होगा और जात-पाँत और सम्प्रदाय का कोई भेद नहीं रक्खा जायगा। क्रान्ति के नेता बनने वाले साम्यवादी का यह विश्वास दिलाना कि मैं जाति-भेद को नहीं मानता, पर्याप्त नहीं होगा। इस आश्वासन का आधार बहुत अधिक गहरा होना चाहिए, अर्थात् इस का परिचय व्यक्तिगति समता और बन्धुता की दृष्टि से एक दूसरे के प्रति देश-बन्धुओं के मानसिक भाव से मिलना चाहिए। क्या कोई कह सकता है कि भारत की सर्व साधारण जनता, निर्धन होते हुए भी, धनी और निर्धन के भेद के सिवा और किसी भेद को नहीं मानती ? क्या कोई कह सकता है कि भारत की निर्धन जनता जात-पाँत का, ब्राह्मण और शूद्र का, ऊँच और नीच का भेद नहीं मानती ? यदि सचाई यह है कि वह मानती है, तो ऐसी जनता से धनवानों का विरोध करने के लिए इकट्ठे हो जाने की क्या आशा की जा सकती है ? यदि सर्वहारा (Proletariat) इकट्ठा हो कर विरोध नहीं कर सकता तो ऐसी क्रान्ति कैसे सम्भव हो सकती है ? युक्ति के लिए मान लीजिए कि भाग्य की चपलता से ऐसी क्रान्ति हो जाती है, और साम्यवादियों के हाथ में शक्ति आजाती है, तो क्या उन्हें भारत में प्रचलित विशेष सामाजिक व्यवस्था से उत्पन्न होने वाली समस्याओं से निबटना नहीं पड़ेगा ? मैं नहीं समझता, भारत में साम्यवादी-शासन जनता में ऊँच-नीच और स्पृश्य-अस्पृश्य का भेद-भाव उत्पन्न करने वाले पक्ष-पातों से पैदा हुई समस्याओं के साथ युद्ध किए बिना एक क्षण के लिये भी कैसे चल सकता है।

यदि साम्यवादियों को केवल ललित वाक्यावली का उच्चारण करने पर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना है, यदि साम्यवादी साम्यवाद को एक निश्चित वस्तु बनाना चाहते हैं, तब उन्हें यह ज़रूर मानना पड़ेगा कि सामाजिक सुधार की समस्या सब का मूल है और वे उस पर आँख बन्द नहीं कर सकते। भारत में प्रचलित सामाजिक व्यवस्था एक ऐसी बात है, जिस के साथ साम्यवादी को अवश्य निवटना पड़ेगा; जब तक वह इस के साथ नहीं निवटेगा, वह क्रान्ति उत्पन्न नहीं कर सकता; और यदि सौभाग्य से उसे क्रान्ति उत्पन्न करने में सुफलता भी प्राप्त हो जाय तो भी, यदि वह अपने आदर्श को सिद्ध करना चाहता है, उसे इस के साथ लड़ना पड़ेगा। यदि वह क्रान्ति के पहले ऊँच-नीच-मूलक वर्ण-व्यवस्था पर विचार करने को तैयार नहीं तो क्रान्ति के बाद उसे इस पर विचार करना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में हम यही बात यों कह सकते हैं कि आप किसी भी ओर मुँह कीजिए, वर्ण-भेद एक ऐसा राक्षस है, जो सब ओर आप का मार्ग रोके पड़ा है। जब तक आप इस राक्षस का वध नहीं करते, आप न राजनीतिक सुधार कर सकते हैं और न आर्थिक सुधार।

[३]
क्या चातुर्वर्ण्य श्रम-विभाग है ?

चातुर्वर्ण्य के साथ सवर्ण हिन्दुओं का इतना मोह है कि वे इस समय इसको समाज-घातक देखते हुए भी इसका विध्वस करने को तैयार नहीं। बड़े बड़े देश-भक्त और बड़े बड़े साम्यवादी हिन्दू-नेता वर्ण-व्यवस्था का विध्वंस देखना सहन नहीं कर सकते।

देश में सम्पत्ति का एक समान बँटवारा होना चाहिए, धनी-निर्धन की विषमता दूर कर देनी चाहिए, इत्यादि सुन्दर सिद्धान्तों का प्रचार करने वाले सोशलिस्ट हिन्दू भी चातुर्वर्ण्य-मर्यादा की रक्षा के लिए एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा देते हैं। कारण यह है कि मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी है। वह दूसरों के कष्ट का उतनी अच्छी तरह से अनुभव नहीं कर सकता, जितनी अच्छी तरह से कि वह अपने कष्टों का करता है। सवर्ण हिन्दुओं को जन्म से ऊँचाई का पट्टा मिला हुआ है, इस लिए वे शूद्र के कष्टों का अनुभव नहीं कर सकते। हाँ, धनी-निर्धन की विषमता उन्हें भी तकलीफ़ देती है। इस लिए वे सम्पत्ति के एक समान बँटवारे का प्रचार करते हैं। ये लोग भूल जाते हैं कि संसार में केवल आर्थिक शक्ति ही सर्वोपरि नहीं। बड़े बड़े करोड़पति लंगोटबन्द साधुओं की पद-धूलि लेते देखे जाते हैं; अहीर और ब्राह्मण मज़दूर दोनों आर्थिक दृष्टि से एक समान होते हुए भी, अहीर ब्राह्मण के शाप से डर कर उसका पूजन करता है और ब्राह्मण मज़दूर की गाली तक सहन करता है। यदि साम्पत्तिक और शासन-शक्ति ही सब कुछ होती, तो बड़े बड़े राजा और नवाब कङ्गाल साधुओं और फ़क़ीरों के दरबार में विनीत भाव से नङ्गे पाँव चल कर न पहुँचते। परम्परागत धार्मिक कुसंस्कारों ने ब्राह्मण और भङ्गी के बीच जो कल्पित उच्चता और पवित्रता की दीवार खड़ी कर दी है, जब तक उसे नहीं गिराया जाता, तब तक न आर्थिक साम्य सम्भव है और न उस से उद्देश्य की पूर्ति ही हो सकती है। खेद है कि भारत में आज तक जितने बड़े बड़े सुधारक हुए हैं, वे प्रायः सवर्ण हिन्दुओं में ही पैदा हुए हैं, इसलिए उन्हें चातुर्वर्ण्य से होने वाली घोर हानि का यथार्थ रूप से अनुभव नहीं हुआ, नहीं तो वे बाकी सब बातों

को छोड़ कर इसी की जड़ पर कुठाराघात करते।

[४]

जाति-भेद या वर्ण-व्यवस्था केवल श्रम का ही विभाग नहीं, वरन् साथ ही श्रमिकों का भी विभाग है। श्रम-विभाग में मनुष्य अपनी योग्यता, शक्ति और रुचि के अनुसार कोई व्यवसाय करता है, परन्तु वर्ण-विभाग में विशेष जाति में जन्म लेने वाले मनुष्यों को एक विशेष कर्म और दूसरी जाति में जन्म लेने वाले मनुष्यों को दूसरा कर्म करना ज़रूरी होता है। इस में भङ्गी हलवाई का काम नहीं कर सकता, ताँगा नहीं चला सकता, और पुरोहित नहीं बन सकता। इसी प्रकार एक क्षत्रिय भूखों भले ही मर जाय, परन्तु वह हल को हाथ नहीं लगा सकता। इस वर्ण-विभाग ने एक हिन्दू को दूसरे हिन्दू से बिलकुल अलग कर दिया है। हिन्दुओं को एकता के सूत्र में बाँधने वाली एक भी चीज़ नहीं। कोई भी ऐसा सामाजिक कार्य नहीं, जिस में भङ्गी से ब्राह्मण तक सभी हिन्दू समान भाव से भाग ले सकें। हिन्दुओं को एकता के सूत्र में बाँधने वाली एक भी बात नहीं, सब इन को अलग-अलग करने वाली ही हैं। हिन्दू अपने को एक राष्ट्र या एक समूची जाति के अङ्ग के रूप में कभी अनुभव नहीं करता, उसे सदा अपने वर्ण का ही भान रहता है। किसी हिन्दू से पूछिये, तुम कौन हो? वह, 'मैं हिन्दू हूँ' ऐसा उत्तर न देकर 'मैं ब्राह्मण हूँ,' क्षत्रिय हूँ, या वैश्य हूँ, यही उत्तर देगा। हिन्दू का सारा जीवन जन्म से मरण-पर्यन्त केवल उस के अपने वर्ण की तंग चहारदीवारी के भीतर ही सीमित रहता है। वह दूसरे हिन्दुओं के सुख-दुःख के लिए कोई सहानुभूति नहीं रख सकता।

हिन्दुओं का प्रत्येक वर्ण दूसरे वर्ण से घृणा और द्वेष रखता है। यहाँ तक कि उन्हों ने एक-दूसरे के लिए निन्दात्मक फबतियाँ और कहावतें भी गढ़ रखी हैं।

वर्ण-भेद ने इन वर्णों या जातियों को सदा के लिए एक-दूसरे का शत्रु बना दिया है। वर्तमान अँगरेज़ों के पुरखा गुलाबों के युद्ध (War of Roses) और क्रामवेल के युद्ध में एक-दूसरे के विरुद्ध लड़े थे। परन्तु उन के वंशजों में अब किसी प्रकार का वैरभाव नहीं। वे झगड़े को भूल गये हैं। परन्तु आज के ब्राह्मणेतर (Non Brahmans) आज के ब्राह्मणों को क्षमा नहीं कर सकते, क्यों कि ब्राह्मणों के पूर्वजों ने शिवजी का अपमान किया था। इसी प्रकार आज के कायस्थों के पूर्वजों पर आज के ब्राह्मणों के पूर्वजों ने जो कलङ्क का टीका लगाया था, उस के लिए कायस्थ आज के ब्राह्मणों को क्षमा करने को तैयार नहीं। अँगरेजों और हिन्दुओं में जो यह अन्तर देख पड़ता है, इस का कारण सिवा वर्ण-व्यवस्था के और क्या हो सकता है। वर्ण-भेद और 'मैं ब्राह्मण हूँ और वह वैश्य है,' इस के ज्ञान के कारण ही आज तक वर्णों के बीच के अतीत कलहों की स्मृति बनी हुई है और हिन्दुओं को सङ्गठित होने से रोक रही है।

[५]

आर्य समाजियों की वर्ण-व्यवस्था

आर्य समाजी लोग एक अलग ही आदर्श बनाये बैठे हैं। वे कहते हैं, भारत की वर्तमान चार हज़ार जातियाँ और उपजातियाँ

तो बुरी हैं, परन्तु उन के बजाय चार वर्ण ज़रूर होने चाहिए। जन्म-मूलक जात-पाँत को तो आज पागल भी अच्छा नहीं कह सकता, इसलिए आर्यसमाजी लोग अपने चातुर्वर्ण्य-विभाग का विरोध कम करने और उसे अधिक आकर्षक बनाने के लिए कहते हैं कि वर्ण जन्म से नहीं, गुण से हैं। परन्तु इस आदर्श का भी समर्थन नहीं हो सकता। पहली बात तो यह है कि यदि आर्य समाजियों के चातुर्वर्ण्य में व्यक्ति को उस के गुणों के अनुसार ही हिन्दू-समाज में स्थान मिलेगा, तो समझ में नहीं आता कि वे लोगों पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लेबिल लागाने का क्यों हठ करते हैं। ब्राह्मण का लेबिल लगाये बिना भी एक विद्वान् सम्मान पाता रहेगा। क्षत्रिय का नाम दिये बिना भी सिपाही का आदर होगा। आर्य समाजियों को सोचना चाहिए कि यदि यूरोपीय समाज अपने योद्धाओं और विद्वानों पर स्थायी लेबिल लगाये बिना भी उन का आदर-सत्कार कर सकता है, तो उन को ही लेबिल लगाना क्यों आवश्यक जान पड़ता है। ब्राह्मण और क्षत्रिय के इन लेबिलों को कायम रखने के विरुद्ध एक और भी आपत्ति है।

यह अनुभव-सिद्ध बात है कि जो भावनायें और संस्कार किसी नाम के साथ एक बार जोड़ दिये जाते हैं, वे हमारा एक अंश ही बन जाते हैं। वे कड़ हो कर ऐसी मनोवृत्ति का रूप धारण कर लेते हैं, जिस से मुक्त होना सुशिक्षित व्यक्ति के लिए भी कठिन हो जाता है। प्राचीन कुसंस्कारों की मानसिक दासता से छुटकारा पाना उतना सुगम नहीं, जितना कि प्रायः समझा जाता है। आचरण में थोड़ा-बहुत परिवर्तन अवश्य हो सकता है; परन्तु यदि नाम वही रहें, तो उन नामों के साथ लगी हुई भावनायें न

केवल संस्कार-रूप में, वरन आचरण में भी बनी रहती है। ब्राह्मण शब्द के साथ उच्चता और शूद्र शब्द के साथ नीचता का जो भाव लगा दिया गया है, उस का संस्कार बड़े से बड़ा हिन्दू-सुधारक भी दूर नहीं कर सका। भारतीय इतिहास में सदा से यह चातुर्वर्ण्य-विभाग ब्राह्मण को पूज्य और शूद्र को जघन्य बताता आया है। इसे सब किसी ने लोकसत्ता का विरोधी माना है। चातुर्वर्ण्य को गुण-कर्म-स्वभाव-मूलक बता कर उसपर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के दुर्गन्धयुक्त लेबिल लगाना एक प्रकार का महा पाखण्ड-जाल फैलाना है। शूद्रों और अछूतों को चातुर्वर्ण्य शब्द से ही घृणा है, उन की आत्मा इस के विरुद्ध विद्रोह करती है। इतना ही नहीं, सामाजिक सङ्गठन की पद्धति के रूप में भी यह चातुर्वर्ण्य असाध्य तथा हानि-कारक है और बहुत बुरी तरह से विफल सिद्ध हो चुका है।

[६]

क्या वर्ण-भेद साध्य भी है ?

चातुर्वर्ण्य तभी साध्य माना जा सकता है, जब पहले दो बातें सम्भव मान ली जाँय। एक बात तो यह कि पहले यह मान लिया जाय कि सारी जनता को चार निश्चित श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। इस दृष्टि से चातुर्वर्ण्य-मर्यादा अफलातून की सामाजिक व्यवस्था से बहुत मिलती है। अफलातून मानता था कि प्रकृति से मनुष्य-समाज तीन श्रेणियों में बँटा हुआ है। कुछ व्यक्तियों में केवल क्षुधायें—वासनायें—प्रधान थीं। इनको उसने श्रमिक और वणिक श्रेणियों का नाम

दिया। दूसरे लोगों में क्षुधाओं से भी बढ़कर शूर प्रकृति देखी जाती थी। वह इनको युद्ध में रक्षक और भीतरी शान्ति के पालक का नाम देता है। कुछ दूसरे लोगों में वस्तुओं के मूल कारण को समझने की क्षमता दीखती थी। इनको उसने प्रजा के स्मृतिकार बना दिया। जो आपत्ति अफलातून की सामाजिक व्यवस्था (Republic) पर लागू होती है, वही चातुर्वर्ण्य-मर्यादा पर भी हो सकती है; क्योंकि इसमें भी यह मान लिया गया है कि मनुष्य-समाज को चार निश्चित श्रेणियों में ठीक-ठीक विभक्त किया जा सकता है। अफलातून के विरुद्ध एक बड़ी आपत्ति यह है कि मनुष्य और उसकी शक्तियों के सम्बन्ध में उसका मत बहुत ही ऊपरी है, इसलिए वह समझता है कि व्यक्तियों का कतिपय बिलकुल अलग-अलग श्रेणियों में वर्गीकरण किया जा सकता है। अफलातून को इस अपूर्व बात का अनुभव न था कि कोई भी दो व्यक्ति एक दूसरे के समान नहीं, अर्थात् किन्हीं भी दो व्यक्तियों को एक ही श्रेणी में इकट्ठा नहीं रखा जा सकता। एक व्यक्ति में जो प्रवृतियाँ काम करती हैं, वे दूसरे व्यक्ति की प्रवृतियों से असीम विभिन्न हैं, इसका उसे ज्ञान न था। किसी उर्दू कवि ने कहा भी है :--

तमाशागाहे आलम में हर इक इन्सान यकता है।
तिलस्माबादे कसरत में यही वहदत कहानी है।

वह समझता था कि व्यक्ति की रचना में विशेष नमूनों की क्षमतायें या शक्तियाँ हैं। उसकी ये सब धारणायें ग़लत सिद्ध की जा सकती हैं। आधुनिक विज्ञान ने यह दिखला दिया है कि व्यक्तियों का दो-चार स्पष्ट रूप से जुदी-जुदी श्रेणियों में वर्गीकरण करना मनुष्य के सम्बन्ध में बहुत उथले ज्ञान का प्रदर्शन

करना है और यह ज्ञान इस योग्य नहीं कि उस पर गम्भीर विचार किया जाय , फलतः व्यक्तियों को थोड़ी सी श्रेणियों में बाँट कर उनके गुणों का उपयोग नहीं किया जासकता; क्योंकि व्यक्तियों के स्वभाव-गुण सदैव अस्थिर और परिवर्तनीय होते हैं। जिस कारण से अफलातून की सामाजिक व्यवस्था सफल नहीं हो सकी, चातुर्वर्ण्य की विफलता का भी वही कारण है, अर्थात् मनुष्यों को श्रेणियों में स्थिर कर देना सम्भव नहीं।

चातुर्वर्ण्य को सफल बनाने के लिए एक ऐसे दण्ड-विधान का होना आवश्यक है, जो डण्डे के ज़ोर से जनता से इसका पालन करा सके। चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के सामने इसको तोड़ने वालों का प्रश्न सदा ही बना रहना ज़रूरी है। जब तक लोगों के सिर पर दण्ड का भय न होगा, वे अपनी अपनी श्रेणी के भीतर नहीं रहेंगे। मनुष्य-प्रकृति के विपरीत होने के कारण, यह सारी व्यवस्था खड़ी न रह सकेगी। चातुर्वर्ण्य के अपने भीतर कोई ऐसा सहज सद्गुण नहीं, जिसके बल-बूते पर वह कायम रह सके। इसको जीता रखने के लिए कानून का होना ज़रूरी है। रामचन्द्र द्वारा शूद्र शम्बूक की हत्या इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि दण्ड-विधान के बिना वर्ण-व्यवस्था नहीं चल सकती। कई लोग राम को दोषी ठहराते हैं कि उस ने अकारण ही ढिठाई से शम्बुक को मार डाला। परन्तु शम्बूक की हत्या के लिए राम को दोषी ठहराना सारी स्थिति को ठीक ठीक न समझना है। रामराज्य का आधार चातुर्वर्ण्य था। राजा होने के कारण चातुर्वर्ण्य-मर्यादा की रक्षा करना राम के लिए अनिवार्य था। शम्बूक ने क्योंकि अपने वर्ण के कर्म का व्यतिक्रम किया था, इस लिए उसे मारना राम का कर्तव्य

था। इस से स्पष्ट हो जाता है कि राम ने शम्बूक की क्यों हत्या की। इस से यह भी पता लग जाता है कि चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था को बनाए रखने के लिए राज-दण्ड का होना क्यों आवश्यक है। न केवल दण्ड का विधान ही, वरन् प्राण-दण्ड का होना आवश्यक है। इसीलिए राम ने शम्बूक को मृत्यु से कम दण्ड नहीं दिया। इसी लिए वेद-मन्त्र को सुनने या उसका उच्चारण करने वाले शूद्र के लिए मनुस्मृति कान में पिघला हुआ सीसा भर देने की या उसकी जिह्वा काट डालने की आज्ञा देती है। चातुर्वर्ण्य के पक्षपातियों को जनता को विश्वास दिलाना होगा कि वे मनुष्य-समाज की जाँच-पड़ताल करके उसे सफलता-पूर्वक चार वर्णों में विभक्त कर सकते हैं और इस २० वीं शताब्दी में वे आधुनिक समाज को मनुस्मृति की दण्डाज्ञायें पुनः प्रचलित करने के लिए तैयार कर सकते हैं। ऐसी अवस्थाओं में, जन्मसिद्ध गावदी के सिवा दूसरा कोई भी समझदार मनुष्य कभी यह आशा और विश्वास नहीं कर सकता; कि चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था पुनः जीवित हो सकती है।

[७]

वर्ण-भेद की हानियाँ

यदि मान भी लिया जाय कि चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था साध्य है, तो भी कहना पड़ेगा कि यह अतीव हानिकारक व्यवस्था है। इसका अर्थ यह है कि थोड़े-से इने-गिने मनुष्यों के निमित्त बहु-संख्क जनता को कङ्गाल बना दिया जाय। इसका अर्थ यह है कि थोड़े-से लोगों की खातिर बहुत से लोगों को निःशस्त्र कर

दिया जाय। इसका अर्थ है कि बहुत से लोगों के जीवनों को निःसत्व और अन्धकारमय बना दिया जाय, ताकि थोड़े से मनुष्य जीवन और प्रकाश पा सकें। संसार में दूसरा कोई भी ऐसा देश नहीं, जिसने अपनी ही बनायी हुई बुराइयों से भारत के समान दुःख और हानि उठायी हो। दुःख उठाते हुए भी हम लोग सामाजिक बुराइयों को क्यों सहन करते रहे हैं? संसार के दूसरे देशों में सामाजिक क्रान्तियाँ होती रही हैं। वैसी ही क्रान्तियाँ भारत में क्यों नहीं हुई? इसका केवल एक ही उत्तर है, और वह यह कि इस राक्षसी वर्ण-व्यवस्था ने हिन्दू जनता को क्रान्ति करने के लिए पूर्ण रूप से अयोग्य बना दिया था। वे शस्त्र धारण नहीं कर सकते थे और शस्त्रों के बिना विद्रोह करना सम्भव न था। वे सब हलवाहे थे या उन्हें नीच ठहरा कर हलवाहा बना दिया गया था और उन्हें हल छोड़कर तलवार पकड़ने की आज्ञा न थी। उनके पास सङ्गीनें न थीं, इस लिए जो कोई भी चाहता था, उनकी छाती पर बैठ सकता था और बैठ जाता था। चातुर्वर्ण्य के कारण वे शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते थे। वे अपने उद्धार का उपाय सोच या जान न सकते थे। उनको नीच ठहाराया गया था। न उनको छुटकारा पाने की रीति मालूम थी और न उनके पास उद्धार का कोई साधन ही था, इस लिए उन्होंने समझ लिया था कि परमेश्वर ने ही हमारे भाग्य में सदा की दासता बदी है।

चातुर्वर्ण्य से बढ़कर दूसरा कोई अनादर और दुर्गति नहीं हो सकती। यह एक ऐसी व्यवस्था है, जो लोगों को निर्जीव, पंगु और लूला बना कर उन्हें उपकारक कार्यों के लिए असमर्थ कर देती है—इसमें रत्ती-भर भी अत्युक्ति नहीं। इतिहास में इसके पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। भारतीय इतिहास में केवल एक ही ऐसा काल

है, जिसे स्वतन्त्रता, महत्ता और कीर्ति का काल कह सकते हैं। वह मौर्य-साम्राज्य का काल है। बाकी सब कालों में देश पराजय और अन्धकार से ही पीड़ित रहा। परन्तु मौर्य-काल वह काल था, जब कि चातुर्वर्ण्य का पूर्ण विध्वंस हो चुका था, जबकि शूद्र, जो प्रजा का अधिकांश थे, होश में आ गये थे और देश के शासक बन गये थे। पराजय और अन्धकार के काल वे काल थे, जबकि चातुर्वर्ण्य खूब ज़ोरों पर था और देश की अधिकांश प्रजा शूद्र के रूप में धिक्कारी जाती थी।

[८]

वर्ण-व्यवस्था की विफलता

चातुर्वर्ण्य सफल नहीं हुआ। सामाजिक सङ्गठन के रूप में इसका परीक्षण किया गया और यह फ़ेल हो गया। कितनी बार ब्राह्मणों ने क्षत्रियों का बीज-नाश किया? कितनी बार क्षत्रियों ने ब्राह्मणों का विध्वंस किया? महाभारत और पुराण ब्राह्मणों और क्षत्रियों के कलहों की घटनाओं से भरे पड़े हैं। यदि ब्राह्मण और क्षत्रिय गली में मिल जायं, तो उनमें से किसको पहले प्रणाम करना चाहिए, या किस को रास्ता छोड़ देना चाहिए, ऐसी ही तुच्छ तुच्छ बातों पर वे लड़ पड़ते थे। न केवल ब्राह्मण ही क्षत्रिय की आँख में काँटा था, वरन क्षत्रिय ब्राह्मण की भी आँख में काँटा था। ऐसा जान पड़ता है कि क्षत्रिय प्रजापीड़क बन गए थे, और दूसरे लोग जिन को चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के अनुसार शस्त्र धारण करने का अधिकार न था, इनके अत्याचार से छुटकारा पाने के लिए परमात्मा से प्रार्थनायें करते थे। भागवत

पुराण स्पष्ट कहता है कि कृष्ण का अवतार क्षत्रियों के विध्वंस के लिए ही हुआ था। इन घटनाओं और उदाहरणों की विद्यमानता में कौन व्यक्ति चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था को एक आदर्श व्यवस्था बता कर हिन्दू-समाज में पुनः उसे स्थापित करने का साहस कर सकता है।

[६]

श्रम की महत्व-हानि

खेद का विषय है कि आज भी वर्ण-भेद के समर्थक पाए जाते हैं। इसके समर्थन में वे अनेक युक्तियाँ देते हैं। वे कहते हैं कि वर्ण-भेद केवल श्रम-विभाग का दूसरा नाम है, और कि यदि प्रत्ये सभ्य समाज के लिए श्रम-विभाग आवश्क है, तो फिर वर्ण-भेद में कुछ भी हानि नहीं। इस मत के खण्डन में पहली बात यह हैं कि वर्ण-भेद केवल श्रम-विभाग नहीं। यह साथ ही श्रमिक-विभाग भी है। निस्सन्देह सभ्य समाज को श्रम-विभाग की आवश्यकता है। परन्तु किसी भी सभ्य समाज में श्रम-विभाग के साथ साथ, हिन्दू समाज की तरह, श्रमिकों का भी अस्वाभाविक विभाग नहीं पाया जाता। वर्ण-भेद केवल श्रमिक-विभाग ही नहीं —जोकि श्रम-विभाग से एक सर्वथा भिन्न चीज़ है—वरन् यह एक ऐसा श्रेणीबद्ध समाज है, जिस में श्रमिकों के विभागों को एक दूसरे के ऊपर क्रम से रखा गया है। किसी भी दूसरे देश में श्रम-विभाग के साथ साथ यह श्रमिकों का क्रम-विन्यास नहीं।

वर्णभेद-सम्बन्धी इस दृष्टिकोण के विरुद्ध एक तीसरी आपत्ति भी है। यह श्रम-विभाग स्वयंजात नहीं, इसका आधार

स्वाभाविक प्रवणतायें नहीं। सामाजिक और व्यक्तिगत योग्यता चाहती है कि व्यक्ति की समझ को विकसित करके इस योग्य बना दिया जाय कि वह अपने लिए स्वयं व्यवसाय चुन सके। वर्ण-भेद में इस नियम को भङ्ग किया गया है, क्योंकि इस में व्यक्तियों के लिए पहले से ही काम नियत करने का यत्न पाया जाता है।

व्यक्तिगत भावना और व्यक्तिगत पसन्द को इस में कोई स्थान नहीं। इसका आधार भवितव्यता का सिद्धान्त है। सामाजिक योग्यता पर ध्यान देने से हमें इस बात को स्वीकार करने पर विवश होना पड़ेगा कि औद्योगिक पद्धति में सब से बड़ी बुराई उतनी इस से पैदा होने वाली दरिद्रता और कष्ट नहीं, जितनी कि यह बात कि बहुत से लोग ऐसे कामों में लगे हुए हैं जिन में उनको कोई रुचि नहीं। ऐसे काम निरन्तर उन में घृणा, दुर्भाव और उनका परित्यग करने की लालसा उत्पन्न किया करते हैं। भारत में अनेक ऐसे व्यवसाय हैं, जो हिन्दुओं द्वारा नीच समझे जाने के कारण उन लोगों में, जो उन को कर रहे हैं, उन से विरक्ति उत्पन्न करते हैं। वे लोग सदा यही चाहते हैं कि हम इन कामों को छोड़ दें और इन को न करें। कारण यह है कि हिन्दू-समाज ने इन व्यवसायों पर कलङ्कित और तिरस्कृत होने का टीका लगा रखा है। इस लिए इन को करने वाले लोग भी तिरस्कृत होते हैं। वह काम क्या उन्नति कर सकता है, जिस के करने वालों के न मन और न हृदय उस काम में लगते हैं? इस लिए आर्थिक सङ्गठन के रूप में वर्ण-भेद एक हानिकारक संस्था है, क्यों कि यह मनुष्य की प्राकृतिक शक्तियों और प्रवणताओं को सामाजिक नियमों की आकस्मिक आवश्यकताओं के अधीन कर देता है।

[१०]

जीवतत्वशास्त्र और वर्णभेद

वर्ण-भेद-रूपी दुर्ग की रक्षा के लिए कुछ लोग जीवत्व-विज्ञान की खाई तैयार किये बैठे हैं। वे कहते हैं कि वर्ण-भेद का उद्देश्य रक्त की पवित्रता और वंश की विशुद्धता को बनाये रखना था। अब मानव-वंश-विज्ञान के पण्डितों का मत है कि विशुद्ध वंश के मनुष्य कहीं भी नहीं पाये जाते; संसार के सभी भागों में सभी वंशों की आपस में मिलावट हो गयी है। श्रीयुत डी० आर० भाण्डारकर ने अपने "हिन्दू प्रजा में विदेशी तत्व" (Foreign Elements in the Hindu Population) नामक लेख में कहा है कि "भारत-में शायद ही कोई श्रेणी या वर्ण ऐसा होगा, जिस में विजातीय अंश न हो। विदेशी रक्त का मिश्रण न केवल लड़ाकू श्रेणियों—राजपूत और मराठों—में ही है, वरन ब्राह्मणों में भी है, जो कि इस धोखे में है कि हम में कोई विजातीय रक्त नहीं मिला।"

यह नहीं कहा जा सकता कि वर्ण-भेद वंश के मिश्रण को रोकने या रक्त की शुद्धता को बनाये रखने का साधन था। सचाई यह है कि वर्ण-भेद भारत की भिन्न-भिन्न जातियों के रक्त और संस्कृति के आपस में मिश्रित हो जाने के बहुत देर बाद प्रकट हुआ था। यह समझना कि वर्णों का भेद वास्तव में वंशों का भेद है और विभिन्न वर्णों को उतने ही विभिन्न वंश या कुल समझना सच्ची बातों को बहुत बुरी तरह से बिगाड़ना है। पञ्जाब के ब्राह्मणों में और मद्रास के ब्राह्मणों में क्या वंश-सम्बन्ध है? बङ्गाल के अस्पृश्यों में और मद्रास के अस्पृश्यों में वंश (race) का क्या रिश्ता है?

पञ्जाव के ब्राह्मणों में और पञ्जाब के चमारों में क्या वंश-भेद है? मद्रास के ब्राह्मणों में और मद्रास के परिया में वंश की क्या भिन्नता है? पञ्जाब का ब्राह्मण वंश की दृष्टि से उसी जाति से है, जिसका कि पञ्जाब का चमार, और मद्रास का ब्राह्मण उसी वंश का है, जिसका कि मद्रास का परिया या अछूत।

वर्ण-भेद वंश-विभाग को नहीं दिखलाता। वर्ण-भेद एक ही वंश के लोगों का सामाजिक विभाग है। परन्तु इसे वंश-विभाग मान कर भी प्रश्न उत्पन्न होता है--यदि विभिन्न वर्णों के बीच अन्तर्वर्णीय विवाहों द्वारा भारत में रक्त और वर्णों का मिश्रण हो लेने दिया जाता तो इस से क्या हानि हो सकती थी? निस्सन्देह मनुष्य और पशु में इतना गहरा भेद है कि विज्ञान मनुष्यों और पशुओं को दो अलग अलग वर्ग मानता है। परन्तु वैज्ञानिक भी--जो वंशों की शुद्धता में विश्वास रखते हैं यह नहीं कहते कि भिन्न भिन्न वंश (races) मनुष्यों के भिन्न भिन्न वर्ग (species) हैं। वे एक ही वर्ग के प्रकार-मात्र हैं। ऐसा होने से वे एक दूसरे में सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं और उनकी सन्तान बाँझ नहीं होती, वरन् आगे बच्चे पैदा कर सकती है।

वर्ण-भेद के समर्थन में वंश-परम्परा (heredity) और सुप्रजनन-शास्त्र (Eugenics) को लेकर बहुत सी मूर्खता-पूर्ण बातें कही जाती हैं। यदि वर्ण-भेद सुप्रजनन-शास्त्र के मौलिक सिद्धान्तों के अनुसार हो, तो बहुत थोड़े लोग इस पर आपत्ति करेंगे, क्योंकि विवेक-पूर्वक जोड़े मिला कर वंश को सुधारने पर बहुत थोड़े मनुष्य आपत्ति कर सकते हैं। परन्तु यह बात समझ में नहीं आती कि वर्ण-भेद से सविवेक विवाह कैसे होते हैं। वर्ण-भेद एक ऋणात्मक वस्तु है। यह विभिन्न वर्णों के लोगों को आपस में

विवाह करने से केवल रोकता है। किसी एक वर्ण में से कौन दो आपस में विवाह करें, इसके चुनाव की यह कोई निश्चित रीति नहीं है। यदि वर्णों का मूल सुप्रजनन-शास्त्र है, तो उपवर्णों का मूल भी सुप्रजनन ही होना चाहिए। परन्तु क्या कोई व्यक्ति गम्भीरतापूर्वक इस बात का प्रतिपादन कर सकता है कि वर्णों के अवान्तर भेदोंका मूल भी सुप्रजनन-शास्त्र अर्थात सुन्दर सन्तान उत्पन्न करने का विज्ञान है? ऐसी बात को सिद्ध करने का यत्न करना बिलकुल बेहूदगी होगा। यदि वर्ण से तात्पर्य वंश से है, तो उपवर्णों के प्रभेदों का अर्थ वंश के प्रभेद नहीं हो सकता, क्योंकि तब उपवर्ण एक ही वंश के उप-विभाग हो जाते हैं। फलतः उपवर्णों में परस्पर रोटी-बेटी-सम्बन्ध की रुकावट वंश या रक्त की पवित्रता को बनाये रखने के उद्देश्य से नहीं हो सकती। यदि वर्णों के अवान्तर-भेदों का आधार सुप्रजनन-शास्त्र नहीं हो सकता, तो इस विवाद में भी कोई तथ्य नहीं हो सकता कि वर्णों का मूल सुप्रजनन-शास्त्र है।

फिर यदि वर्ण-भेद का मूल सुप्रजनन हो, तो अन्तर्वर्णीय विवाह की रुकावट समझ में आ सकती है। परन्तु वर्णों और उन के अवान्तर-भेदों के परस्पर सहभोज पर जो रुकावट लगाई गई है, उसका क्या उद्देश्य है? सहभोज रक्त में छूत का सञ्चार नहीं कर सकता। इसलिए उससे न वंश का सुधार होता है और न बिगाड़। इससे पता लगता है कि वर्ण-भेद का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं। जो लोग इसका आधार सुप्रजनन को जनाना चाहते हैं, वे उस बात का विज्ञान द्वारा समर्थन करने की चेष्टा कर रहे हैं, जो कि सर्वथा अवैज्ञानिक है। जब तक हमें वंश-परम्परा के नियमों का सुनिश्चित ज्ञान न हो, आज भी सुप्रजनन-शास्त्र क्रियात्मक रूप से सम्भव नहीं हो सकता। प्रोफ़ेसर बेटसन अपनी पुस्तक

("Mendel's Principle of Heredity") में कहते हैं:—"उन्नतर मानसिक गुणों के बाप से बेटे में जाने में कोई भी ऐसी बात नहीं, जिससे यह कहा जा सके कि वे प्रेषण की किसी एक पद्धति का अनुसरण करते हैं। अधिक सम्भव यह है कि क्या ये गुण और क्या शारीरिक शक्तियों की अधिक ,निर्दिष्ट वृद्धियाँ किसी उत्पत्ति सम्बन्धी तत्व की विद्यमानता की अपेक्षा बहु-संख्यक हेतुओं के सन्निपतन का अधिक परिणाम होती हैं।"

यह कहना कि वर्ण-व्यवस्था सुप्रजनन-शास्त्र के अनुसार बनाई गई थी, दूसरे शब्दों में यह मान लेना है कि वर्तमान काल के हिन्दुओं के पूर्वजों को वंश-परम्परा (Heredity) का ज्ञान था, जो कि आधुनिक वैज्ञानिकों को भी नहीं है। वृक्ष अपने फल से पहचाना जाता है। यदि वर्ण-भेद सुप्रजनन (Eugenics) है, तो इसने किस प्रकार की नस्ल पैदा की है ? शारीरिक रूप से हिन्दू ठिगनों और बौनों की जाति है, जिनका न क़द है और न बल। यह एक ऐसी जाति है, जिसका $\frac{9}{10}$ वाँ भाग सैनिक सेवा के अयोग्य ठहराया जा चुका है। इससे पता लगता है कि वर्ण-व्यवस्था में आधुनिक वैज्ञानिकों के सुप्रजनन-शास्त्र का कुछ भी आधार नहीं। यह एक ऐसी सामाजिक पद्धति है, जिसमें हिन्दुओं के एक दुष्ट समाज का घमण्ड और स्वार्थपरता भरी पड़ी है। इन दुष्ट लोगों की सामाजिक स्थिति इतनी ऊँची थी और इनको ऐसा अधिकार प्राप्त था कि जिसमें वे वर्ण-व्यवस्था को चला सकते और अपने से छोटों पर लाद सकते थे।

— —

[११]

आर्थिक दक्षता और वर्ण-भेद

वर्ण-भेद से आर्थिक दक्षता नहीं पैदा होती। वर्ण-भेद ने वंश को न उन्नत किया है और न वह कर ही सकता है। इसने अलबत्ता एक बात की है। इसने हिन्दुओं को पूर्णतः असङ्गठित और नीति-भ्रष्ट कर दिया है।

सब से प्रथम और प्रधान बात, जिसको समझ लेना बहुत आवश्यक है, यह है कि हिन्दू-समाज एक काल्पनिक वस्तु है। खुद हिन्दू नाम भी एक विदेशी नाम है। यह नाम मुसलमानों ने यहाँ के निवासियों को अपने से अलग पहचानने के लिए दिया था। मुसलमानों के आक्रमण के पूर्व के किसी भी संस्कृत ग्रन्थ में इसका उल्लेख नहीं मिलता। शायद उनको एक सामान्य नाम की आवश्यकता का अनुभव ही न होता था, क्योंकि उनको इस बात की कल्पना ही न थी कि हम एक समाज या बिरादरी हैं। इसलिए एक भ्रातृ-मण्डल के रूप में हिन्दू-समाज का कोई अस्तित्व नहीं। यह तो केवल वर्णों और उपवर्णों का एक संग्रह है। प्रत्येक वर्ण और उपवर्ण अपने ही अस्तित्व का अनुभव करता है। इसको बनाये रखना ही वह अपने अस्तित्व का एकमात्र उद्देश्य समझता है।

भिन्न-भिन्न जातें-पाँतें और वर्ण-उपवर्ण कोई सङ्घ भी नहीं बनाते। एक वर्ण कभी यह अनुभव ही नहीं करता कि वह दूसरे वर्णों के साथ सम्बद्ध है, सिवा उस समय के जबकि कोई हिन्दू-मुसलिम फ़िसाद हो। बाकी सब अवसरों पर प्रत्येक

वर्ण अपने को दूसरे वर्णों से अलग करने और पृथक् दिखाने का ही प्रयत्न करता है। प्रत्येक वर्ण न केवल अपने ही भीतर खान-पान और ब्याह-शादी करता है, वरन् अपने लिए एक पार्थक्य-सूचक परिधान भी निर्धारित करता है। यदि यह बात नहीं, तो भारत के स्त्री-पुरुषों के परिधान की असंख्य रीतियों का, जिन्हें देख कर विदेशी पर्यटक हँसते हैं, और क्या कारण है? वास्तव में आदर्श हिन्दू वही है, जो चूहे की भाँति अपने ही बिल में बन्द रहता है और दूसरों के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध रखने को तैयार नहीं। जिसे समाज-शास्त्र की परिभाषा में "जाति की चेतना" (Consciousness of kind) कहा जाता है, उसका हिन्दुओं में सर्वथा अभाव है। हिन्दू अनुभव ही नहीं करते कि हम एक जाति हैं। प्रत्येक हिन्दू में जो चेतना पाई जाती है, वह उसके अपने वर्ण की चेतना (consciousness of caste) है। इसी कारण हिन्दू एक समाज या एक राष्ट्र नहीं कहला सकते।

परन्तु अनेक भारतीय ऐसे हैं, जिन की देशभक्ति उन्हें यह स्वीकार करने की आज्ञा नहीं देती कि भारतीय कोई एक राष्ट्र नहीं, वरन् एक जनता का आकारहीन ढेर हैं। वे आग्रह करते हैं कि इस बाहर से दीखने वाली विभिन्नता के नीचे मौलिक एकता मौजूद है, जिस का प्रमाण यह है कि भारत के इस महाद्वीप में सर्वत्र हिन्दुओं के स्वभाव और रीतियाँ, विश्वास और विचार एक जैसे हैं। परन्तु फिर भी कोई मनुष्य इस परिणाम को स्वीकार नहीं कर सकता कि हिन्दुओं का एक समाज है।

हिन्दुओं को एक समाज मानना समाज को बनाने वाली आवश्यक बातों को गलत समझना है। शारीरिक रूप से एक-दूसरे के निकट रहने से ही मनुष्य एक समाज नहीं कहला सकते, नहीं

तो यह भी मानना पड़ेगा कि दूसरे मनुष्यों से कई सौ मील दूर चले जाने से मनुष्य अपने समाज का सदस्य नहीं रह जाता। दूसरे, स्वभावों और रीतियों, विश्वासों और विचारों में सादृश्य का होना मनुष्यों को एक समाज बनाने के लिए पर्याप्त नहीं है। ईंटों की तरह बातों को एक से दूसरे तक पहुँचाया जा सकता है। इसी प्रकार एक मनुष्य-समूह के स्वभाव और रीतियाँ, विश्वास और विचार दूसरा मनुष्य-समूह ले सकता है, जिस से दोनों में सादृश्य दीख सकता है। संस्कृति प्रसार द्वारा फैलती है। यही कारण है जो हम विविध आदिम जातियों में, स्वभावों और रीतियों, विश्वासों और विचारों के विषय में सादृश्य पाते हैं, यद्यपि वे एक-दूसरे के पास नहीं रहतीं। परन्तु यह कोई नहीं कह सकता क्यों कि उन में यह सादृश्य था, इस लिए आदिम जातियों का एक समाज था। समाज उन्हीं लोगों का बनता है, जिन के पास वे चीज़ें होती हैं जिन पर उन सब का साझे का अधिकार होता है। वैसी ही चीज़ें रखना चीज़ों पर साझे का अधिकार रखने से सर्वथा भिन्न बात है। एकमात्र रीति जिस से मनुष्य एक दूसरे के साथ वस्तुओं पर साझे का अधिकार रख सकते हैं, वह एक दूसरे के साथ सहचरता या मनोभाव का आदान-प्रदान है। दूसरे शब्दों में, समाज का अस्तित्व मनोभाव के आदान-प्रदान द्वारा वरन आदान-प्रदान में ही रह सकता है।

इसे तनिक अधिक स्पष्ट करना हो, तो कह सकते हैं कि मनुष्य का दूसरों के कार्यों के अनुकूल ढङ्ग से कार्य करना ही पर्याप्त नहीं। अनुरूप कर्म चाहे एक सदृश भी हो, वह मनुष्यों को इकट्ठा कर के समाज बनाने के लिए पर्याप्त नहीं। इस का प्रमाण यह है कि यद्यपि हिन्दुओं के भिन्न-भिन्न वर्णों और उपवर्णों सब

के पर्व एक ही हैं, तो भी विभिन्न वर्णों के एक-जैसे पर्वों को अनुरूप रीति से मनाने से हिन्दू जुड़ कर एक अखण्ड समाज नहीं बने। इस के लिए जिस बात की आवश्यकता है, वह है मनुष्य का एक साझे के कार्य में भाग लेना, ताकि उस में वही मानसिक आवेग जाग्रत हो, जो दूसरों को उत्साहित कर रहा है। किसी सम्मिलित कार्य में किसी व्यक्ति को भागीदार या साझी बनाना जिस से वह उस कार्य की सफलता को अपनी सफलता और उस की विफलता को अपनी विफलता समझे, यही एक सच्ची चीज़ है, जो मनुष्यों को इकट्ठा करती और उन का एक समाज बनाती है। वर्ण-भेद साझे के काम को रोकता है और साझे के काम को रोक कर इस ने हिन्दुओं को एकीभूत जीवनवाला और अपने अस्तित्व का अनुभव करने वाला समाज बनने से रोक दिया है।

[१२]

आदिम निवासी और जाति-भेद

हाल में जो वर्जित और आंशिक रूप से वर्जित क्षेत्रों के विषय में विवाद चला था, उस ने जनता का ध्यान जिन्हें भारत की आदिम जातियाँ कहा जाता है उन की स्थिति की ओर आकर्षित किया है। उन की संख्या अधिक नहीं तो १३ लाख तो ज़रूर है। इस बात को छोड़ कर भी कि नये राजनीतिक विधान से उन को अलग रखना उचित है या अनुचित, यह सचाई फिर भी बनी रहती है कि ये आदिम जातियाँ एक ऐसे देश में, जो सहस्रों वर्षों की पुरानी सभ्यता की डींग मारता है, अपनी पहली अस-

भ्य दशा में ही पड़ी रही हैं। न केवल इतना कि वे असभ्य हैं, वरन् उन में से कुछ लोग तो ऐसे पेशे करते हैं जिन से वे जरायम-पेशा (criminal tribes) कहलाने लगे हैं। तेरह लाख मनुष्य सभ्य संसार के बीच रहते हुए अभी तक भी जङ्गली अवस्था में हैं और परम्परागत अपराधियों का जीवन बिता रहे हैं! और हिन्दुओं ने कभी इस के लिए लज्जा का अनुभव नहीं किया। यह घटना ऐसी है, जिस की तुलना मिलना कठिन है। इस लज्जाजनक दशा का क्या कारण है? इन आदिम निवासियों को सभ्य बनाने और किसी अधिक प्रतिष्ठित रीति से आजीविकोपार्जन करना सिखाने का यत्न क्यों नहीं किया गया?

आदिम निवासियों की इस जङ्गली अवस्था का कारण हिन्दू सम्भवतः उन की आजन्मिक मूर्खता बतायेंगे। सम्भवतः वे इस बात को स्वीकार नहीं करेंगे कि आदिम निवासी इस लिए जङ्गली रह गये हैं, क्यों कि हम ने उन को सभ्य बनाने का, उन को दवा-दारू की सहायता देने का, उन का सुधार करने का और उन को अच्छे नागरिक बनाने का कोई यत्न नहीं किया। परन्तु मान लीजिये कि कोई हिन्दू इन आदिम निवासियों के लिए वही कुछ करना चाहता जो ईसाई मिशनरी उन के लिए कर रहा है, तो क्या वह ऐसा कर सकता? मेरी राय है, बिलकुल नहीं। आदिम निवासियों को सभ्य बनाने का अर्थ है उन को अपना बनाना, उन के बीच निवास करना और सहानुभूति पैदा करना, सारांश यह कि उन पर प्रेम करना। हिन्दू के लिए ऐसा करना कैसे सम्भव है? उस का सारा जीवन उस के वर्ण या जात-पाँत को बचाये रखने का एक चिन्तित उद्योग-मात्र है। जात-पाँत उस की वह बहुमूल्य वस्तु है, जिस को वह प्राण देकर भी बचायेगा

आदिम निवासियों के साथ जो वैदिक युग के घृणित अनार्यों के अवशिष्टांश हैं संसर्ग स्थापित कर के वह इसे खोने के लिए राज़ी नहीं हो सकता।

यह बात नहीं कि हिन्दुओं को पतित मनुष्यों के प्रति कर्तव्य-बुद्धि सिखायी नहीं जा सकी। वरन् कठिनाई यह है कि कर्तव्य-बुद्धि चाहे कितनी भी अधिक क्यों न हो, वह हिन्दू को उस के वर्ण की रक्षा के कर्तव्य को दबाने में समर्थ नहीं बना सकती। इस लिए, हिन्दुओं ने अपनी सभ्यता के बीच आदिम निवासियों को जङ्गली क्यों बना रहने दिया, और इस के लिए उन्हें किसी प्रकार के अनुताप, खेद या लज्जा का अनुभव क्यों नहीं हुआ, इस का मूल कारण वर्ण-भेद ही है। हिन्दुओं ने यह नहीं अनुभव किया कि ये आदिम निवासी एक सुप्त भय का स्रोत हैं। यदि ये जङ्गली जङ्गली ही बने रहें, तो हो सकता है कि वे हिन्दुओं की कोई हानि न करें। परन्तु यदि अहिन्दुओं ने उन को सुधार कर अपने धर्म में मिला लिया, तो वे हिन्दुओं के शत्रुओं की सेना को बढ़ाने का कारण बन जायेंगे। यदि ऐसा हुआ, तो हिन्दुओं को अपने आप को और अपने वर्ण-भेद को धन्यवाद देना पड़ेगा।

[१३]

वर्ण-भेद द्वेष का मूल है

न केवल यही कि हिन्दुओं ने जङ्गलियों को सभ्य बनाने जैसे मानव-हित के काम के लिए कोई यत्न नहीं किया, वरन हिन्दुओं के ऊँचे वर्णों ने जान-बूझ कर अपने से छोटे वर्ण के

दूसरे हिन्दुओं को उन्नति कर के उच्च वर्ण के सांस्कृतिक समतल मर पहुँचने से रोका है। मैं यहाँ दो उदाहरण देता हूँ, एक सोनारों का और दूसरा पाठारे प्रभुओं का। दोनों जातियाँ महाराष्ट्र में बहुत प्रसिद्ध हैं। अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा करने की इच्छुक दूसरी बिरादरियों की तरह, ये दो बिरादरियाँ भी एक समय ब्राह्मणों की कुछ रीतियाँ और स्वभाव ग्रहण करने का यत्न कर रही थीं। सोनार अपने को दैवज्ञ ब्राह्मण कहते थे, धोती की लाँग तह लगाकर बाँधते और अभिवादन में 'नमस्कार' शब्द का प्रयोग करते थे। धोती को तह करके बाँधना और 'नमस्कार' कहना, ये दोनों रीतियाँ केवल ब्राह्मणों की ही थीं। सुनारों का इस प्रकार अनुकरण करना और ब्राह्मण बनने का यत्न करना ब्राह्मणों को बुरा लगा। पेशवाओं ने रीतियों को ग्रहण करने के इस यत्न को सफलतापूर्वक दबा दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने बम्बई में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सेटलमेण्ट की कौन्सिल के प्रेज़िडेण्ट से भी बम्बई में रहने वाले सोनारों के नाम एक निषेधात्मक आज्ञा निकलवा दी।

एक समय था, जब पाठारे प्रभुओं में विधवा-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। विधवा-विवाह की प्रथा सामाजिक हीनता का चिह्न समझी जाती थी, विशेषतः इसलिए क्योंकि ब्राह्मणों में इसका रिवाज नहीं था। अपनी जाति की सामाजिक स्थिति को ऊँचा करने के उद्देश्य से कुछ पाठारे प्रभुओं ने अपनी जाति में विधवा-विवाह की प्रथा को बन्द कर देना चाहा। इस पर जाति में दो दल हो गये, एक विधवा-विवाह के पक्ष में और दूसरा उसके विरुद्ध। पेशवाओं ने उस दल का पक्ष लिया, जो विधवा-विवाह के समर्थक थे और इस प्रकार पाठारे प्रभुओं को कार्यतः ब्राह्मणों

की प्रथा का अनुकरण करने से मना कर दिया । हिन्दू मुसलमानों को उलाहना देते हैं कि उन्होंने अपना धर्म तलवार के ज़ोर से फैलाया है। वे ईसाई धर्म की भी इंकीज़ीशन के कारण हँसी उड़ाते हैं। परन्तु वास्तव में दोनों में से कौन अच्छा और कौन सम्मान के अधिक योग्य है—मुसलमान और ईसाई, जो न मानने वाले लोगों के गले में वह वस्तु बरबस ठूँसते थे जिसे वे उनकी मुक्ति के लिए अच्छा समझते थे, या हिन्दू, जो ज्ञान का प्रकाश फैलाने को तैयार नहीं थे, जो दूसरों को अँधेरे में रखने का यत्न करते थे, और दूसरे लोगों को अपने बौद्धिक और सामाजिक उत्तराधिकार में से भाग देने को राज़ी न थे, हालाँ कि वे लोग उसे अपनी बनावट का एक अङ्ग बनाने को तैयार और राज़ी थे ? इस दृष्टि से यह कहने में कोई सङ्कोच नहीं होता कि मुसलमान यदि निर्दय थे, तो हिन्दू नीच, और नीचता निर्दयता से बुरी है।

[१४]

जात-पाँत और शुद्धि

एक समय था, जब इस बात पर विवाद होते थे कि क्या हिन्दू-धर्म कोई मिशनरी या प्रचारक धर्म है। कुछ लोगों का मत था कि यह कभी भी मिशनरी या विधर्मियों को अपने में खपा लेने वाला धर्म नहीं रहा। कुछ समझते थे कि यह था। परन्तु यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि यह एक समय प्रचारक धर्म था। यदि यह प्रचारक धर्म न होता, तो यह सारे भारत में कभी न फैल सकता। इसके साथ ही इस सचाई को भी स्वीकार करना पड़ेगा कि अब यह मिशनरी धर्म नहीं रहा। इस लिए प्रश्न यह नहीं कि हिन्दू-धर्म प्रचारक धर्म था या नहीं। वास्तविक प्रश्न यह है कि हिन्दू-धर्म

प्रचारक धर्म क्यों नहीं रहा ? मेरा उत्तर यह है। हिन्दू धर्म उस समय प्रचारक धर्म न रहा, जब हिन्दुओं में वर्ण-भेद उत्पन्न हो गया। वर्ण-भेद और प्रचार द्वारा विधर्मियों को अपने धर्म में खपाना, दो परस्पर विरोधी बातें हैं। धर्मान्तर में केवल सिद्धान्तों और विश्वासों को ठूँसने का ही एक प्रश्न नहीं होता। धर्मान्तरित व्यक्ति को अपने समाज में स्थान देने का भी प्रश्न होता है और बहुत आवश्यक प्रश्न होता है। दूसरे धर्म से आने वाले को समाज में कहाँ रखा जाय ? उसे किस बिरादरी में जगह दी जाय ? यह एक ऐसा प्रश्न है, जो प्रत्येक ऐसे हिन्दू को हैरान करता है, जो विदेशियों और विधर्मियों को धर्मान्तर द्वारा हिन्दू बनाना चाहता है। वर्ण कोई क्लब नहीं, जिस में सब कोई सम्मिलित हो सके। जात-पाँत के नियमानुसार केवल उस जाति में जन्म लेने वाला ही उस जाति का माना जा सकता है। सब वर्ण या बिरादरियाँ स्वतन्त्र हैं। कहीं भी कोई ऐसा हाकिम मौजूद नहीं, जो किसी वर्ण को किसी नवागत को अपने सामाजिक जीवन में प्रविष्ट करने पर विवश कर सके। हिन्दू-समाज वर्णों और उपवर्णों का संग्रह-मात्र है, और प्रत्येक वर्ण और उपवर्ण एक ऐसा गठित सङ्घ है, जिस में बाहर से भीतर जाने का मार्ग बन्द है, इस लिए दूसरे धर्म से आने वाले के लिए उस में कोई स्थान नहीं। अतएव वर्ण-भेद ने ही हिन्दुओं को फैलने से और दूसरे धर्म वालों को अपने में खपाने से रोका है। जब तक वर्ण-भेद रहेंगे, हिन्दू धर्म प्रचारक धर्म नहीं बन सकेगा और "शुद्धि"-आन्दोलन एक मूर्खता और व्यर्थ चेष्टा-मात्र होगी।

---

[१५]

वर्ण-भेद और संगठन

जिन कारणों ने "शुद्धि" को असम्भव बना रखा है, उन्हीं ने सङ्गठन को भी असम्भव बना दिया है। सङ्गठन के नीचे जो भाव काम कर रहा है, वह यह है कि हिन्दू के मन से उस भीरुता और कायरता को दूर किया जाय, जो मुसलमानों और सिक्खों में नहीं पायी जाती और जिसके कारण हिन्दू अपनी रक्षा के लिए धोखे और मक्कारी की नीच रीतियों का अवलम्ब करता है। स्वभावतः प्रश्न उत्पन्न होता है कि सिक्ख या मुसलमान वह शक्ति कहाँ से प्राप्त करता है, जो उसे वीर और निडर बनाती है? इस का कारण यह नहीं कि वे शारीरिक बल में हिन्दुओं से अधिक हैं या अपेक्षाकृत अच्छा भोजन करते हैं, या कोई विशेष व्यायाम करते हैं। इस का कारण वह शक्ति है, जो इस भाव से उत्पन्न होती है कि एक सिक्ख को ख़तरे में देख कर सभी सिक्ख उस को बचाने के लिए इकट्ठे हो जाते हैं और कि यदि एक मुसलमान पर आक्रमण होता है, तो सभी मुसलमान उस की रक्षा के लिए दौड़ पड़ते हैं। हिन्दू ऐसी कोई शक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। उसे विश्वास नहीं हो सकता कि दूसरे हिन्दू उस की सहायता के लिए आयेंगे। हिन्दू अकेला है, भाग्य ने ही उसे अकेला रक्खा है, इस लिए वह निर्बल रहता है। उस में कायरता और भीरुता उत्पन्न हो जाती है, और लड़ाई में या तो वह अधीनता स्वीकार कर लेता है या भाग जाता है। सिक्ख और मुसलमान निडर हो कर खड़ा रहता है और डट कर लड़ता है; क्यों कि वह जानता है कि यद्यपि मैं एक हूँ, परन्तु मैं अकेला नहीं रहूँगा। एक को इस विश्वास के कारण

शक्ति मिल जाती है और दूसरे को इस के अभाव के कारण भाग जाना पड़ता है।

यदि आप इस पर तनिक और विचार करेंगे और पूछेंगे कि सिक्ख और मुसलमान को किस कारण अपने पर इतना भरोसा रहता है और सहायता तथा बचाव के सम्बन्ध में हिन्दू क्यों इतना हताश रहता है, तो आप को इस का कारण उन के रहन-सहन की सङ्घबद्ध रीति में देख पड़ेगा। सिक्खों और मुसलमानों के मिलकर रहने-सहने की रीति ऐसी है जिससे उनमें सहानुभूति पैदा होती है। हिन्दुओं के रहन-सहन की रीति ऐसी नहीं। सिक्खों और मुसलमानों का सामाजिक बन्धन ऐसा है, जो उनको भाई बनाता है। हिन्दुओं में ऐसा कोई सामाजिक बन्धन नहीं है। इस से एक हिन्दू दूसरे हिन्दू को अपना भाई नहीं समझता है। यही कारण है कि एक सिक्ख या एक खालसा अपने को सवा लाख मनुष्यों के बराबर समझता और कहता है। यही कारण है कि एक मुसलमान हिन्दुओं की एक बड़ी भीड़ के बराबर है। दोनों में इस अन्तर का कारण निस्सन्देह हिन्दुओं का वर्ण-भेद है। जब तक वर्ण-भेद है, तब तक कोई सङ्गठन नहीं हो सकता और जब तक सङ्गठन नहीं, तब तक हिन्दू दुर्बल और दब्बू ही बने रहेंगे।

हिन्दू अभिमान के साथ कहते हैं कि हम बड़े सहिष्णु और उदार-चेता है। मेरी सम्मति में यह भूल है। कई अवसरों पर वे असहिष्णु और अनुदार हो जाते हैं। यदि किसी अवसर पर वे सहिष्णु होते हैं, तो इस का कारण यह होता है कि वे इतने दुर्बल होते हैं या इतने उदासीन होते हैं कि विरोध नहीं कर सकते। यह उदासीनता हिन्दुओं की प्रकृति का इतना अधिक अंश बन चुकी है कि हिन्दू अपमान और अत्याचार को भी

चुपके से सहन कर लेता है। आप उन में, श्रीयुत मारिस के शब्दों में, बड़ों को छोटों को रौंदते, सबलों को निर्बलों को पीटते, क्रूरों को किसी से न डरते, दयालुओं को साहस न करते और बुद्धिमानों को परवा न करते हुए पाते हैं। सभी हिन्दू देवताओं के क्षमाशील होते हुए भी हिन्दुओं में दलितों और अत्याचार-पीड़ितों के दयनीय दशा किसी से छिपी नहीं। उदासीनता से बढ़कर बुरा और कोई रोग नहीं हो सकता। हिन्दू इतने उदासीन क्यों हैं? मेरी राय में यह उदासीनता वर्ण-भेद का ही परिणाम है। वर्ण-भेद ने किसी अच्छे काम के लिए भी सङ्गठन और सहयोग को असम्भव बना दिया है।

[१६]

वर्णभेद और आचार-शास्त्र

हिन्दुओं के आचार-शास्त्र पर वर्ण-भेद का प्रभाव बहुत खेदजनक हुआ है। वर्ण-भेद ने सार्वजनिक भाव को मार डाला है। वर्ण-भेद ने सार्वजनिक वदान्यता के भाव को नष्ट कर दिया है। वर्ण-भेद ने लोक-मत को असम्भव बना दिया है। एक हिन्दू की जनता उस का अपना वर्ण ही है। उस का उत्तरदायित्व उस के अपने ही वर्ण के प्रति है। उस की भक्ति उस के अपने वर्ण तक ही परिमित है। वर्ण-भेद ने सद्गुण को दबा दिया है और सदाचार को जकड़ दिया है। पात्र के लिए कोई सहानुभूति नहीं रही। गुणी के गुणों की कोई प्रशंसा नहीं। भूखे को दान नहीं दिया जाता। किसी को कष्ट में देख कर उस की सहायता का भाव नहीं उत्पन्न होता। दान होता ज़रूर है, परन्तु वह अपने ही वर्ण से आरम्भ होकर अपने ही वर्ण के साथ समाप्त हो जाता है। सहानुभूति है, परन्तु दूसरे वर्णों के

लोगों के लिए नहीं। क्या कोई हिन्दू किसी बड़े और अच्छे मनुष्य को अपना नेता स्वीकार करेगा और उस के पीछे चलेगा ? महात्माजी को छोड़ दीजिये, इस का उत्तर यही है कि हिन्दू उसी नेता के पीछे चलेगा, जो उस की अपनी जाति का है। एक ब्राह्मण तभी नेता के पीछे चलेगा, यदि वह नेता ब्राह्मण है। इसी प्रकार कायस्थ कायस्थ को और बनिया बनिये को नेता मानेगा। अपनी जात-पाँत का विचार छोड़ कर मनुष्य के सद्गुणों की कद्र करने की क्षमता हिन्दू में मौजूद नहीं। सद्गुण की कद्र होती है, परन्तु केवल उस समय, जब कि गुणी उस का अपना जाति-बन्धु हो। सारी आचार-नीति जातीय नीति (tribal morality) हो गयी है। मेरा जाति-भाई हो, चाहे वह ठीक कहता हो चाहे ग़लत; मेरा जाति-बन्धु हो, चाहे अच्छा हो या बुरा। यह पुण्य का पक्ष लेने या पाप का पक्ष न लेने की बात नहीं। यह जाति का पक्ष लेने या न लेने की बात है। क्या हिन्दुओं ने अपने वर्णों और उपवर्णों के हितार्थ अपने देश के विरुद्ध विश्वासघात नहीं किया है ?

[१७]

मेरा आदर्श-समाज

आप पूछेंगे कि यदि आप वर्ण-भेद नहीं चाहते, तो आप का आदर्श-समाज क्या है ? मेरा आदर्श एक ऐसा समाज है, जिस का आधार स्वाधीनता, समता और बन्धुता हो। क्यों ? बन्धुता पर क्या आपत्ति हो सकती है ? मुझे तो कोई सूझती नहीं। आदर्श समाज गतिशील होना चाहिए, वह ऐसे मार्गों से भरा होना चाहिए, जो एक भाग में होने-वाले परिवर्तन को दूसरे

भागों में ले जायँ। आदर्श समाज में अनेक ऐसे हित होने चाहिएँ जिन का जान-बूझ कर आदान-प्रदान हो और जिन में सभी भाग लें। सङ्घ की दूसरी रीतियों के साथ बेरोक-टोक और विभिन्न प्रकार से संसर्ग होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, सामाजिक घी-खिचड़ी होना आवश्यक है। यही बन्धुता है, इसी का दूसरा नाम प्रजातन्त्र है। प्रजातन्त्र केवल शासन का ही एक रूप नहीं। यह मुख्यतः सङ्घबद्ध रहन-सहन की, मिल-जुल कर एक-दूसरे को लेने-देने की रीति है। यह मूलतः अपने साथियों के प्रति सम्मान और श्रद्धा का भाव है।

क्या स्वाधीनता पर भी कोई आपत्ति हो सकती है? आने-जाने की स्वतन्त्रता के अर्थों में, जीने और चलने-फिरने की खुली छुट्टी के अर्थों में, स्वाधीनता पर बहुत थोड़े लोग आपत्ति करेंगे। शरीर को स्वस्थ दशा में रखने के निमित्त आजीविकोपार्जन के लिए आवश्यक सामग्री, औज़ार और सम्पत्ति पर अधिकार के अर्थों में स्वाधीनता पर किसी को कोई आपत्ति नहीं। फिर व्यक्ति को उसकी शक्तियों के योग्य और कार्यकारी प्रयोग द्वारा लाभान्वित होने की स्वाधीनता देने में क्यों आपत्ति की जाय? वर्ण-व्यवस्था के पक्षपाती जो आने जाने, चलने फिरने, हिलने-डुलने, सम्पत्ति पर अधिकार रखने की स्वाधीनता पर आपत्ति नहीं करते, वे व्यक्ति की शक्तियों का उपयोग करने की, विशेषतः उसके अपने लिए कोई व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता देने को तैयार नहीं। परन्तु इस प्रकार की स्वाधीनता पर आपत्ति करना दासता को चिर-स्थायी बनाना है। कारण यह कि दासता का अर्थ केवल अधीनता का क़ानून-सङ्गत रूप ही नहीं। इस का

अर्थ समाज की वह अवस्था है, जिस में कुछ लोगों को अपने आचरण की दूसरों की इच्छा के अनुसार ढालना पड़ता है।

क्या समता पर कोई आपत्ति हो सकती है ? यह स्पष्टतः फ्रान्सीसी राज्य-क्रान्ति के रणनाद का सब से अधिक विवादास्पद भाग रहा है। समता पर निर्दोष आपत्तियाँ हो सकती हैं। हमें मानना पड़ता है कि सब मनुष्य बराबर नहीं। परन्तु तब क्या हुआ ? हो सकता है कि समता एक अलीक वस्तु हो, परन्तु तो भी हमें इस को एक सञ्चालक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करना ही पड़ेगा। मनुष्य की शक्ति तीन बातों पर आश्रित है-(१) शारीरिक वंश-परम्परा, (२) सामाजिक उत्तराधिकार या माता-पिता द्वारा चिन्ता, शिक्षा, वैज्ञानिक ज्ञान के सञ्चय के रूप में और उस प्रत्येक बात के रूप में दान, जो उसे जङ्गली मनुष्य से अधिक योग्य और समर्थ बनाती है, और अन्ततः (३) उस के अपने प्रयत्न। इन तीनों बातों की दृष्टि से मनुष्य निस्सन्देह असमान हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या उन के असमान होने के कारण हम उन के साथ असमानता का व्यवहार करें ? यह एक ऐसा प्रश्न है, जिस का उत्तर देना समता के विरोधियों के लिए आवश्यक हैं। व्यक्तिवादी के दृष्टिकोण से, मनुष्यों के साथ, जहाँ तक उन के उद्योग असमान हैं, असमानता का व्यवहार करना न्यायसङ्गत हो सकता है। प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति के पूर्ण विकास को यथा सम्भव अधिक से अधिक उत्तेजन देना वाञ्छनीय हो सकता है। परन्तु यदि मनुष्यों के साथ पहली दो बातों में, जिन में वे असमान हैं, असमता का व्यवहार किया जायगा, तो उस का परिणाम क्या होगा ? यह स्पष्ट है कि जिन व्यक्तियों, के पक्ष में जन्म, शिक्षा, पारिवारिक ख्याति,

व्यावसायिक सम्बन्ध और बाप-दादा से मिला हुआ धन है, वे ही इस दौड़ में चुने जायेंगे। परन्तु ऐसी अवस्थाओं में यह चुनाव योग्यों का चुनाव नहीं होगा। यह विशेष अधिकार-प्राप्त मनुष्यों का चुनाव होगा। इस लिए वह कारण, जो ज़ोर देता है कि तीसरी बातमें हमें लोगों के साथ एकसमान व्यवहार नहीं करना चाहिए, इस बातकी माँग करता है कि पहली दो बातों में हमें उनके साथ यथा-सम्भव अधिक से अधिक समता का व्यवहार करना चाहिए।

परन्तु एक कारण है, जिस से हमारे लिए समता को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। राजनीतिज्ञ का सम्बन्ध जनता की बहुसंख्या के साथ होता है। इस लिए राजनीतिज्ञ के लिए किसी मोटे और तैयार नियम के अनुसार कार्य करना आवश्यक है, और मोटा तथा तैयार नियम यह है कि सब मनुष्यों के साथ एकसा व्यवहार किया जाय, इस लिए नहीं कि वे सब एक समान हैं, वरन् इस लिए कि वर्गीकरण और श्रेणी-विभाग असम्भव है।

[१८]

अहिन्दू और जात-पाँत

जो लोग वर्ण-भेद के पक्ष में हैं और उस के मिटाने के विरोधी हैं, उन के सम्बन्ध में ऊपर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। परन्तु उन के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी लोग हैं, जो न इस के पक्ष में हैं और न इस के विरुद्ध। उन के सम्बन्ध में भी दो कारणों से थोड़ा बहुत लिखने की आवश्यकता है। इन में से एक समूह ऐसा है, जिसे हिन्दुओं के वर्ण-भेद में कोई अनोखी या घृणा-

जनक बात नहीं दीख पड़ती। ऐसा हिन्दू मुसलमानों, सिक्खों और ईसाइयों का उदाहरण देता है और उसे इस बात से ढाढ़स मिलता है कि उन लोगों में भी जात-पाँत है। इस बात का निश्चय करने के लिए कि क्या अमुक समाज एक आदर्श समाज है, यह प्रश्न नहीं पूछना चाहिए कि उस में समूह हैं या नहीं, क्योंकि समूह तो सभी समाजों में मौजूद हैं। आदर्श समाज क्या है, इस का निश्चय करने के लिए ये प्रश्न पूछे जाने चाहियें—वे व्यापार कितने विभिन्न और बहुसंख्यक हैं,जिन में ये समूह जान-बूझ कर भाग लेते हैं ? दूसरे प्रकार के सङ्घों के साथ मिल कर वे कहाँ तक पूर्ण और स्वतन्त्र रूप से काम करते हैं ? क्या उन समूहों और श्रेणियों को पृथक्-पृथक् करने वाली शक्तियाँ उनको जोड़ने वाली शक्तियों से संख्या में अधिक हैं ? इस समूह-जीवन का सामाजिक अर्थ क्या समझा जाता है ? क्या इनका अलग-थलग रहना केवल रिवाज और सुविधा के कारण है या यह धर्म की बात है ? इन प्रश्नों के प्रकाश में ही हमें इस बात का निश्चय करना चाहिए कि अहिन्दुओं में भी जात-पाँत वैसी ही है, जैसी कि हिन्दुओं में। यदि आप इस दृष्टि से एक ओर मुसलमानों, सिक्खों और ईसाइयों की जातों-पाँतों को और दूसरी ओर हिन्दुओं की जातों-पाँतों को देखेंगे, तो आपको मालूम हो जायगा कि अहिन्दुओं में जात-पाँत हिन्दुओं की जात-पाँत से मूलतः भिन्न है।

पहली बात यह है कि हिन्दुओं में ऐसे बन्धनों का सर्वथा अभाव है, जो उनको ज्ञानतः इकट्ठे रखते हों। समाज की शक्ति संपर्क की बातों और समाज में विद्यमान विभिन्न समूहों में पारस्परिक क्रिया की सम्भावनाओं की विद्यमानता पर निर्भर करती है। इन को कार्लायल "आंगिक सूत्र" कहता

है, अर्थात् वे लचकदार धागे जो टुकड़े टुकड़े होने वाले तत्वों को एकत्र करके दुबारा जोड़ने में सहायता देते हैं। हिन्दुओं में कोई ऐसी संयोजक शक्ति नहीं जो वर्ण-भेद से उत्पन्न होने वाली छिन्न-भिन्न कारिणी क्रिया का प्रतिकार कर सके। इसके विपरीत अहिन्दुओं में उनको एकत्र रखने वाले बन्धन अनेक हैं। फिर इस बात को भी भूल नहीं जाना चाहिए कि यद्यपि अहिन्दुओं में भी जात-पाँत है, परन्तु वे इसको वही सामाजिक महत्व नहीं देते, जो हिन्दू देते हैं। किसी मुसलमान या ईसाई से पूछिये कि तुम कौन हो। वह आपको उत्तर देगा कि मैं मुसलमान हूँ, या ईसाई हूँ। वह आपको अपनी 'जात' नहीं बतायेगा, यद्यपि उसकी जात है, और आप उसके उत्तर से सन्तुष्ट हो जाते हैं। जब वह आपसे कहता है कि मैं मुसलमान हूँ, तो आप उससे यह नहीं पूछते कि शिया हो या सुन्नी; शेख हो या सैयद; खटीक हो या जुलाहा। जब कोई सिक्ख कहता है कि मैं सिक्ख हूँ, तो फिर उससे यह नहीं पूछा जाता कि तुम जाट हो या अरोड़ा, मज़हबी हो या रामदासी। परन्तु जब कोई मनुष्य कहता है कि मैं हिन्दू हूँ, तो आपको उससे सन्तोष नहीं होता। आपको उसकी 'जाति' पूछने की आवश्यकता का अनुभव होता है। क्यों? क्योंकि हिन्दू की अवस्था में 'जाति' इतनी आवश्यक है कि उसको जाने बिना आप इस बात का निश्चय नहीं कर सकते कि वह किस प्रकार का मनुष्य है।

जाति-पाँति को तोड़ने का क्या परिणाम होता है, यदि आप इस पर विचार करेंगे, तो आपको स्पष्ट हो जायगा कि अहिन्दुओं में जात-पाँत का वह सामाजिक महत्व नहीं, जो हिन्दुओं में है। मुसलमानों और सिक्खों में जात-पाँत बेशक हो, परन्तु वे जात-पाँत तोड़ने वाले मुसलमान या सिक्ख को जाति-बहिष्कृत

नहीं करते। वास्तव में जाति-बहिष्कार की भावना ही ईसाइयों और मुसलमानों के लिए एक अपरिचित सी बात है। परन्तु हिन्दुओं की अवस्था इससे सर्वथा भिन्न है। जात-पाँत को तोड़ डालने पर हिन्दू का बहिष्कृत हो जाना निश्चित है। इससे पता लगता है कि हिन्दुओं और अहिन्दुओं में जात-पाँत के महत्व के सम्बन्ध में कितना भारी अन्तर है। भिन्नता की यह दूसरी बात है।

इसके अतिरिक्त भिन्नता की एक तीसरी और अधिक महत्वपूर्ण बात भी है। अहिन्दुओं में जात-पाँत को कोई धार्मिक प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं। परन्तु हिन्दुओं में निश्चय ही इसे धार्मिक प्रतिष्ठा प्राप्त है। अहिन्दुओं में जात-पाँत एक प्रथा है, कोई पवित्र संस्था नहीं। उन्होंने इसको जन्म नहीं दिया। वे तो इसे एक पुराना रोग समझते हैं। वे जात-पाँत को कोई धार्मिक सिद्धान्त नहीं मानते। धर्म हिन्दुओं को बाध्य करता है कि वे वर्णों और उपवर्णों के पृथकत्व को सद्गुण समझें। परन्तु धर्म अहिन्दुओं को जात-पाँत के प्रति यही भाव रखने को बाध्य नहीं करता। यदि हिन्दू जात-पाँत को तोड़ना चाहते हैं, तो उनका धर्म रास्ते में आ खड़ा होता है। इस बात को जानने की कुछ भी परवा न करके कि जात-पाँत का अहिन्दुओं के जीवन में क्या स्थान है और उनमें ऐसे "आङ्गिक सूत्र" भी हैं जो जात-पाँत की भावना को बिरादरी या समाज की भावना के नीचे दबा देते हैं, अहिन्दुओं में केवल जात-पाँत का अस्तित्व देख कर ही अपने को ढाढ़स देना एक भयानक भ्रम है। हिन्दुओं को जितनी जल्दी इस भ्रम से छुटकारा मिले, उतना ही अच्छा है।

एक दल ऐसा है, जो मानता ही नहीं कि वर्ण-भेद ने हिन्दुओं की कुछ हानि की है, इसलिए वह इस पर विचार करने की कोई

आवश्यकता ही नहीं समझता। ऐसे हिन्दू इसी बात में सान्त्वना पा रहे हैं कि हिन्दू अभी तक बचे रहे हैं। वे इस बात को अपने जीवित रहने की योग्यता का प्रमाण समझते हैं। इस दृष्टिकोण को प्रोफेसर एस० राधा कृष्णन् ने अपनी "Hindu View of Life" नामक पुस्तक में भली भाँति प्रकट किया है। हिन्दू-धर्म के सम्बन्ध में वे कहते हैं—"खुद हिन्दू सभ्यता भी अल्पजीवी नहीं हुई। इस के ऐतिहासिक लेख चार हज़ार वर्ष से भी अधिक पुराने हैं। तब भी यह सभ्यता की ऐसी अवस्था को पहुँच चुकी थी जिस ने अपनी अक्षुण्ण गति वर्तमान काल तक जारी रखी है, यद्यपि यह बीच में कभी कभी मन्द और अचल भी हो जाती रही है। यह आध्यात्मिक विचार और अनुभव के चार पाँच से भी अधिक सहस्राब्दों का बोझ और दबाव सहन कर चुकी है। यद्यपि ऐतिहासिक काल के आरम्भ से ही विभिन्न वंशों और संस्कृतियों के लोग भारत में आते रहे हैं, तो भी हिन्दू धर्म अपने प्राधान्य को बनाए रख सका है। यहाँ तक कि विधर्मियों को अपने में मिला लेने वाले धर्म भी, अपने पीछे राजनीतिक शक्ति रखते हुए भी, हिन्दुओं की एक बड़ी बहुसंख्या को तंग करके अपने विचारों का नहीं बना सके। हिन्दू-संस्कृति में कोई ऐसी जीवनी-शक्ति है, जो कई दूसरी अधिक प्रबल धाराओं को मिली नहीं प्रतीत होती। जिस प्रकार यह देखने के लिए कि पेड़ में अभी रस है या नहीं, उसे काट कर देखना व्यर्थ है, वैसे ही हिन्दू-धर्म की चीर-फाड़ की भी अधिक आवश्यकता नहीं।"

प्रोफेसर राधाकृष्णन् जो कुछ कहते हैं, उस की गम्भीरता अनेक लोगों के हृदयों पर अङ्कित कर देने के लिए प्रोफेसर महोदय का नाम ही पर्याप्त है। परन्तु हमें अपने मन की बात कह

देने में सङ्कोच नहीं करना चाहिए। हमें डर है कि उन का कथन कहीं इस दूषित तर्क का आधार न बन जाय कि अब तक जीता बचा रहना भविष्य में भी जीते रहने की योग्यता का प्रमाण है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रश्न यह नहीं कि कोई समाज जीता है या मरता है; प्रश्न यह है कि वह किस अवस्था में जीता है। बच कर जीते रहने के विभिन्न प्रकार हैं। पर वे सब समान रूप से प्रतिष्ठित नहीं। व्यक्ति के लिए और समाज के लिए केवल जीने और उपयुक्त रीति से जीने के बीच एक बड़ा अन्तर है। संग्राम में लड़ना और कीर्ति के साथ जीना एक प्रकार है। रण में पीठ दिखाना, अधीनता स्वीकार करके बंदी का जीवन व्यतीत करना भी बचे रहने का एक प्रकार है। हिन्दू के लिए इस बात से अपने को ढाढ़स देना व्यर्थ है कि वह और उस की जाति बच कर जीती रही है। हिन्दू को जिस बात पर विचार करना चाहिए वह यह है कि वे बच कर किस अवस्था में जीते रहे हैं। यदि वह इस पर विचार करेगा तो मुझे निश्चय है कि वह केवल बच कर जीते रहने पर ही गर्व करना छोड़ देगा। हिन्दुओं का जीवन निरन्तर पराजय का जीवन रहा है। जो चीज़ उन्हें चिरस्थायी जीवन प्रतीत होता है वह चिरस्थायी रूप से जीना नहीं है वरन् वास्तव में एक ऐसा जीवन है जो चिरस्थायी रूप से नष्ट हो रहा है। यह बच कर जीते रहने की एक ऐसी रीति है, जिस के लिए प्रत्येक शुद्ध विचार वाले हिन्दू को, जो सत्य को स्वीकार करने से नहीं डरता, लज्जा का अनुभव होगा।

---

[१९]

वर्ण-भेद को मिटाने के उपाय

अब प्रश्न यह है कि जाति-भेद को नष्ट कैसे किया जाय ? हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था का सुधार कैसे हो ? यह प्रश्न बड़े ही महत्व का है। कुछ लोगों की सम्मति है कि जाति-भेद को मिटाने के लिए पहले उपजातियों को मिटाना चाहिए। जिन लोगों का यह विचार है वे समझे हुए हैं कि उपजातियों के रीति-रिवाज और सामाजिक स्थिति में मुख्य जातियों की अपेक्षा अधिक सादृश्य है। मैं समझता हूँ, उन की यह कल्पना अशुद्ध है। उत्तरी और मध्य भारत के ब्राह्मण बम्बई और मद्रास के ब्राह्मणों की तुलना में सामाजिक रूप से निचले दर्जे के हैं। पूर्वोक्त तो केवल रसोइए और पानी भरने वाले ही हैं, परन्तु शेषोक्त की सामाजिक स्थिति ऊँची है। इसके विपरीत उत्तर भारत में वैश्य और कायस्थ बौद्धिक और सामाजिक रूप से बम्बई और मद्रास के ब्राह्मणों के बराबर हैं।

फिर भोजन के विषय में बम्बई तथा मद्रास के ब्राह्मणों में. जो निरामिष भोजी हैं.और काश्मीर तथा बङ्गाल के ब्राह्मणों में, जो मांसहारी हैं. कोई सादृश्य नहीं। इस के विपरीत बम्बई तथा मद्रास के ब्राह्मण भोजनकी बातों में गुजराती, मारवाड़ी, बनिये और जैन आदि निरामिष-भोजियों से अधिक मिलते हैं। इस में कुछ भी सन्देह नहीं कि एक जाति से दूसरी जाति में जाने के दृष्टिकोण से उत्तर भारत के कायस्थों और मद्रास के दूसरे ब्राह्मणेतरों का बम्बई तथा द्रविड़ देश के ब्राह्मणेतरों के साथ मिश्रण

मद्रास के ब्राह्मणों के उत्तर के ब्राह्मणों के साथ मिश्रण की अपेक्षा अधिक व्यवहार्य है। परन्तु यदि पल भर के लिए मान भी लिया जाय कि उपजातियों का मिश्रण सम्भव है तो इस बात की क्या ज़मानत है कि उपजातियों को तोड़ देने से मुख्य जातियाँ भी ज़रूर टूट जायँगी ? इसके विपरीत हो सकता है कि उपजातियों के टूटने के साथ ही काम बंद हो जाय। ऐसी अवस्था में, उपजातियों के टूटने से मुख्य जातियों की शक्ति ही बढ़ेगी, जिससे वह अधिक बलवान बन कर अधिक अनिष्ट करने लगेंगी। इस लिए यह उपाय न तो साध्य है और न कार्यकर ही। यह आसानी से एक ग़लत इलाज साबित हो सकता है।

जाति-भेद को नष्ट करने के लिए काम करने की दूसरी पद्धति यह कही जाती है कि पहले अन्तरवर्णीय सहभोज आरम्भ किए जायें। मेरी राय में यह उपाय भी अल्प है। अनेक जातियाँ ऐसी हैं जिन में सहभोज होता है। परन्तु यह सब किसी के अनुभव की बात है कि सहभोज जाति-भेद के भाव को और जाति-भेद की चेतना को मारने में सफल नहीं हुआ। मेरा विश्वास है कि वास्तविक उपाय अन्तरवर्णीय विवाह है। केवल रक्त का मिश्रण ही स्वजन और मित्र होने का भाव पैदा कर सकता है। जब तक मित्र होने, भाई-बन्धु होने का भाव प्रधान नहीं होता, जाति-भेद द्वारा उत्पन्न किया हुआ वियोजक भाव, पराया होने का भाव, कभी दूर न होगा। अन्तर्जातीय विवाह को हिन्दुओं के सामाजिक जीवन में जितना प्रबल साधन होने की आवश्यकता है उतनी अहिन्दुओं के सामाजिक जीवन में नहीं। जहाँ समाज पहले ही दूसरे बन्धनों से आपस में खूब ओत-प्रोत हो, वहाँ विवाह जीवन की एक साधारण सी घटना होती है। परन्तु जहाँ

समाज कटकर टुकड़े टुकड़े हो रहा हो, वहाँ इकट्ठा करने वाली शक्ति के रूप में विवाह एक अनिवार्य आवश्यकता की बात हो जाता है। इस के सिवा और कोई भी बात जाति-भेद को मिटाने का काम नहीं दे सकती।

लाहौर के जात-पांत तोड़क मण्डल ने आक्रमण की यही रीति ग्रहण की है। यह सीधा और सामने से आक्रमण है। इस रोग के ठीक निदान के लिए मण्डल धन्यवाद का पात्र है। उस ने हिन्दुओं को उन की सच्ची खराबी बताने का साहस किया है। सामाजिक उत्पीड़न की तुलना में राजनीतिक उत्पीड़न कुछ भी नहीं। जो सुधारक समाज को ललकारता है वह गवर्नमेण्ट का विरोध करने वाले राजनीतिज्ञ से कहीं अधिक निर्भीक है। जात-पाँत तोड़क मण्डल का यह कहना ठीक ही है कि अन्त-रवर्णीय सहभोजों और जात-पाँत तोड़क विवाहों का आम रिवाज हो जाने पर ही जाति-भेद का ज़ोर टूटेगा। मण्डल ने रोग का कारण ढूँढ़ लिया है। परन्तु अब विचारणीय विषय यह है कि इस रोग के लिए ठीक योग क्या है। क्या कारण है कि हिन्दुओं की एक बड़ी संख्या जात-पांत तोड़ कर रोटी-बेटी-सम्बन्ध नहीं करती? क्या कारण है कि जात-पाँत तोड़क अन्दो-लन सर्वप्रिय नहीं? इस प्रश्न का केवल एक ही उत्तर हो सकता है और वह यह कि जात-पाँत तोड़ कर रोटी-बेटी सम्बन्ध उन विश्वासों और सिद्धान्तों को अरुचिकर है जिन्हें हिन्दू पवित्र समझते हैं।

ईंटों की दीवार या काँटेदार तार की बाड़ की तरह जात-पाँत कोई स्थूल वस्तु नहीं, जो हिन्दुओं को आपस में मिलने से रोकती हो और जिसे गिराने की आवश्यकता हो। जात-

पाँत एक भावना है, मन की एक अवस्था है। इस लिए जात-पाँत तोड़ने का अर्थ किसी स्थूल रुकावट को नष्ट करना नहीं । इसका अर्थ भावना का बदलना है । जाति-भेद बुरा हो सकता है, जाति-भेद ऐसा बुरा आचरण करा सकता है जो मनुष्य के प्रति मनुष्य की पाशविकता कहला सकती है। परन्तु इसके साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि हिन्दू जाति-भेद को इस लिए नहीं मानते कि वे क्रूर हैं या उनके मस्तिष्क में कुछ खराबी है। वे जाति-भेद के इस लिए पाबन्द हैं कि उनको धर्म प्राणों से भी प्यारा है। जाति-भेद को मानने में लोगों की भूल नहीं । भूल उन धर्म-ग्रन्थों की है जिन्होंने यह भावना उनमें उत्पन्न की है । यदि यह बात ठीक हो तो जिस शत्रु के साथ हमें लड़ना है वह जाति-भेद को मानने वाले लोग नहीं, वरन् वे शास्त्र हैं जो उन्हें इस वर्ण-भेद का धर्मोपदेश देते हैं। जाति-भेद को तोड़कर रोटी-बेटी-सम्बन्ध न करने के लिए लोगों की हँसी उड़ाना और आलोचना करना अथवा कभी कभी अन्तर्जातीय सहभोज तथा जात-पाँत तोड़क विवाह कर लेना मनोवाञ्छित उद्देश्य की प्राप्ति का एक व्यर्थ साधन है। सच्चा इलाज तो उन शास्त्रों की पवित्रता में लोगों का विश्वास नष्ट करना है। यदि उन शास्त्रों पर लोगों का विश्वास बना रहेगा तो आपको सफलता की आशा कैसे हो सकती है ? शास्त्रों को प्रमाण मानने से इनकार न करना, उनकी पवित्रता और विधानों में लोगों का विश्वास बना रहने देना, और साथ ही उनके कर्म को अयुक्तियुक्त और पाशविक बता कर उन्हें दोष देना एवं उनकी आलोचना करना सामाजिक सुधार की एक बहुत ही असंगत रीति है ।

जो सुधारक अस्पृश्यता दूर करने का यत्न कर रहे हैं, जिनमें

महात्मा गाँधी भी शामिल हैं,ऐसा जान पड़ता है, वे इस बात को नहीं समझते कि लोगों के आचरण उन विश्वासों के परिणाम मात्र हैं जो शास्त्रों ने उनके मन में बैठा दिये हैं। लोग तब तक अपने उस आचरण को नहीं बदल सकते जब तक कि उनका विश्वास उन शास्त्रों पर से नष्ट नहीं होता जो उनके आचरण के आधार हैं। इस लिए यदि जात-पाँत तोड़क आन्दोलन को अभी तक उतनी सफलता नहीं हुई तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। जात-पाँत तोड़ने वाले भी वही भूल कर रहे हैं, जो छूत-छात दूर करने वाले कर रहे हैं। अन्तरवर्णीय सहभोजों और विवाहों के लिए आन्दोलन एवं प्रबन्ध करना कृत्रिम उपायों से ज़बर्दस्ती भोजन ठूँसने के समान है। प्रत्येक स्त्री और पुरुष को शास्त्रों की दासता से मुक्त कर दीजिए, शास्त्रों पर आश्रित हानिकारक भावनाओं को उनके मन से निकाल डालिए, फिर आप को उन से कुछ कहने की आवश्यकता न रहेगी। वे अपने आप जात्-पाँत तोड़ कर खान-पान और ब्याह शादी करने लगेंगे।

वाक् छल में शरण लेने से कुछ लाभ नहीं। लोगों को यह कहने से कुछ लाभ नहीं कि शास्त्र वह बात नहीं कहते जो तुम विश्वास किए बैठे हो। महत्व की बात यह नहीं कि व्याकरण की दृष्टि से पढ़ने अथवा तर्क की दृष्टि से व्याख्या करने पर, शास्त्र क्या कहते हैं। वरन् महत्व की बात यह है कि लोग शास्त्रों का अर्थ क्या लेते हैं। हमें वही स्थिति ग्रहण करनी चाहिए जो बुद्ध ने ग्रहण की थी। हमारी स्थिति वही होनी चाहिए जो गुरु नानक की थी। हमें शास्त्रों का परित्याग करने की नहीं, वरन् बुद्ध और नानक की तरह उन को प्रामाणिक या धर्म-ग्रन्थ मानने से इनकार करने की आवश्यकता है। हम में साहस होना चाहिए कि हम

हिन्दुओं से कह सकें कि तुम्हारी सारी खराबी तुम्हारे धर्म-ग्रन्थों की है, उन धर्म-ग्रन्थों की है जिन्हों ने तुम में जाति-भेद की पवित्रता की झूठी भावना उत्पन्न कर रखी है। क्या हम यह साहस दिखलायेंगे ?

[२०]

जाति-भेद क्यों नहीं मिटता

हिन्दू-समाज से जाति-भेद मिटाना कोई सुगम कार्य नहीं। इस के मार्ग में अनेक बाधाएँ हैं। मैं तो जाति-भेद का मिटा देना प्रायः असम्भव समझता हूँ। इस का एक कारण शत्रुता का वह भाव है जो ब्राह्मणों ने इस समस्या के प्रति दिखलाया है। ब्राह्मण राजनीतिक सुधार और, कुछ अवस्थाओं में, आर्थिक सुधार के आन्दोलन की अग्रगामी सेना बने हुए हैं। परन्तु जाति-भेद के कच्चे मोर्चों को तोड़ने के लिए तैयार की गई सेना में वे पीछे चलने वाले खलासी भी नहीं बनते। क्या इस कार्य में भविष्य में ब्राह्मणों के नेता बन कर आगे आने की कोई आशा है ? मेरा उत्तर है, नहीं। आप पूछेंगे, क्यों ? आप कह सकते हैं कि कोई कारण नहीं कि ब्राह्मण सामाजिक सुधार से परहेज़ करते रहेंगे। आप कह सकते हैं कि ब्राह्मण जानते हैं कि हिन्दू समाज के लिए वर्ण-भेद विष के समान है, इसलिए एक प्रबुद्ध श्रेणी होने के कारण वे इसके परिणामों से उदासीन नहीं हो सकते। आप कह सकते हैं कि याजक और लौकिक दो प्रकार के ब्राह्मण हैं; यदि याजक ब्राह्मण जाति-भेद को तोड़ने वालों की ओर से डंडा नहीं उठायेंगे, तो लौकिक ब्राह्मण ज़रूर उठायेंगे। यह सब ऊपर से बहुत युक्तियुक्त प्रतीत होता है। परन्तु इस सब में यह भूल न जाना चाहिये कि जाति-भेद के टूटने से ब्राह्मण जाति पर

बुरा प्रभाव होना अवश्यम्भावी है। ऐसी अवस्था में क्या ब्राह्मणों से यह आशा करना युक्तियुक्त है कि वे कभी ऐसे आन्दोलन के अगुआ बनना स्वीकार करेंगे जिसका अन्तिम परिणाम ब्राह्मण जाति की शक्ति और विशेषाधिकार को नष्ट करना है? क्या यह आशा करना युक्तियुक्त है कि लौकिक ब्राह्मण याजक ब्राह्मणों के विरुद्ध जारी किए हुए आन्दोलन में भाग लेंगे? मेरी राय में तो याजक ब्राह्मणों और लौकिक ब्राह्मणों में भेद करना व्यर्थ है। दोनों एक ही थैली के चट्टे बट्टे हैं। वे एक ही शरीर की दो भुजाएँ हैं। उनमें से एक का दूसरे की रक्षा के लिए लड़ना अनिवार्य है।

इस संबन्ध में मुझे प्रोफेसर डाईसे (Prof Dicey) के उनकी पुस्तक "English Constitution" में लिखे सारगर्भित वचन याद हो आते हैं। पार्लियामेण्ट के व्यवस्थापक प्राधान्य पर वास्तविक रुकावटों का वर्णन करते हुए डाईसे कहते हैं—"किसी राजाधिराज द्वारा और विशेषतः पार्लियामेण्ट द्वारा प्रभुत्व के वास्तविक प्रयोग को दो रुकावटें काबू में रखती हैं। इनमें से एक बाहरी रुकावट होती है और दूसरी भीतरी। राजाधिराज या सर्वप्रधान शासक की वास्तविक शक्ति पर बाहरी रोक इस संभावना या निश्चय में है कि उसकी प्रजा या उनकी बहुसंख्या उसके राजनियमों का उल्लङ्घन या प्रतिरोध करेगी।...... सर्व प्रधान शक्ति के प्रयोग पर भीतरी रोक सर्वप्रधान शक्ति के अपने स्वरूप से उत्पन्न होती है। यहाँ तक कि एक स्वेच्छाचारी प्रजा-पीड़क शासक भी अपने शील के अनुसार ही अपनी शक्तियों का प्रयोग करता है। उसके शील को वे अवस्थायें ढालती हैं जिन में वह रहता है। इन अवस्थाओं के अन्तर्गत उस काल के नैतिक

भाव और वह समाज भी आ जाता है जिस से उसका संबन्ध होता है। टर्की का सुलतान यदि चाहता भी तो मुस्लिम जगत के धर्म को न बदल सकता। परन्तु यदि वह बदल सकता, तो यह बहुत ही असंभव है कि इस्लाम का मुखिया मुहम्मद के धर्म को उलट देने की इच्छा करता। सुलतान की शक्ति के प्रयोग पर भीतरी रोक कम से कम उतनी ही मज़बूत है जितनी कि बाहरी रोक। लोग कई बार निरर्थक प्रश्न करते हैं कि पोप अमुक या अमुक सुधार क्यों नहीं कर देता? इस का ठीक उत्तर यह है कि क्रान्तिकारी मनुष्य उस प्रकार का नहीं होता जो पोप बनता है, और जो मनुष्य पोप बनता है उसे क्रान्तिकारी बनने की कोई इच्छा नहीं होती।"

मैं समझता हूँ यह शब्द भारत के ब्राह्मणों पर भी समान रूप से चरितार्थ होते हैं। हम उतनी ही सचाई के साथ कह सकते हैं कि जिस प्रकार जो मनुष्य पोप बनता है उसे क्रान्तिकारी बनने की कोई इच्छा नहीं होती उसी प्रकार जो मनुष्य ब्राह्मण के घर जन्म लेता है उसे क्रान्तिकारी बनने की उस से भी कम इच्छा होती है। वास्तव में सामाजिक सुधार की बातों में ब्राह्मण से क्रान्तिकारी होने की आशा करना, लेज़ली स्टीफ़न के शब्दों में, उतना ही व्यर्थ है, जितना कि ब्रिटिश पार्लियामेण्ट से सभी नीली आँखों वाले बच्चों को मार डालने का कानून पास कर देने की आशा करना।

आप में से कुछ लोग कहेंगे कि जाति-भेद तोड़ने के आन्दोलन में ब्राह्मण आगे आयें या न आयें, इस में मुज़ायक़ा ही क्या है। मेरी समझ में ऐसी धारणा रखना उस महत्व से आँखें मूँद लेना है जो किसी समाज में बुद्धि-जीवी श्रेणी को प्राप्त होता है। आप चाहे इस मत को मानें या न मानें कि महापुरुष ही इति-

हास का निर्माता होता है, इतना तो आप को मानना ही पड़ेगा कि प्रत्येक देश में बौद्धिक श्रेणी ही सब से अधिक प्रभावशाली श्रेणी होती है, चाहे वह शासक श्रेणी न भी हो। बुद्धि-जीवी श्रेणी ही ऐसी श्रेणी होती है जो पहले से किसी बात को देख सकती है, यही श्रेणी परामर्श दे सकती है और नेतृत्व कर सकती है। किसी भी देश में जन-साधारण सुबोध विचार एवं सज्ञान कर्म का जीवन व्यतीत नहीं करते। वे तो प्रायः नक़ल करते हैं और बुद्धि-जीवी श्रेणी के पीछे चलते हैं। इस बात में कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं कि किसी देश का समूचा भाग्य उस की बुद्धि-जीवी श्रेणी पर निर्भर करता है। यदि वह श्रेणी ईमानदार, स्वाधीन और निष्पक्ष हो तो उस पर विश्वास किया जा सकता है कि संकट आने पर वह नेतृत्व करके मार्ग दिखाएगी।

यह सच है कि बुद्धि स्वयमेव कोई सद्गुण नहीं। यह तो एक साधन मात्र है और साधन का उपयोग उस लक्ष्य पर निर्भर है जिस के लिए बुद्धिमान मनुष्य यत्न करता है। बुद्धिमान मनुष्य धर्मात्मा हो सकता है। परन्तु वह आसानी से दुरात्मा भी हो सकता है। इसी प्रकार एक बुद्धि-जीवी श्रेणी ग़लती करने वाले मनुष्यों का उद्धार करने वाली और सहायता देने के लिए तैयार उच्च-आत्माओं का एक समूह हो सकती है, अथवा यह आसानी से दुष्टों का दल या किसी ऐसे संकीर्ण टोले के समर्थकों का जत्था हो सकती है जिस से उसे पुष्टि मिलती है।

आप इसे एक खेद का विषय समझ सकते हैं कि भारत में बौद्धिक श्रेणी ब्राह्मण जाति का केवल एक दूसरा नाम है। आप को खेद हो सकता है कि दोनों एक ही चीज़ हैं; बौद्धिक श्रेणी का अस्तित्व एक ही जाति

के साथ बँधा हुआ है; यह बौद्धिक श्रेणी ब्राह्मण जाति के हितों तथा आकांक्षाओं में भाग लेती है; और यह अपने को देश के हितों का नहीं वरन् उस जाति के ही हितों का रक्षक समझती है। यह सब बहुत ही शोचनीय बातें हो सकती हैं। परन्तु यह सचाई बराबर बनी रहती है कि ब्राह्मण हिन्दुओं की बौद्धिक श्रेणी हैं। यह केवल बौद्धिक श्रेणी ही नहीं वरन् यह एक ऐसी श्रेणी है जिसे बाकी हिन्दू बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। हिन्दुओं को सिखाया जाता है कि ब्राह्मण भूदेव (पृथ्वी के देवता) हैं। हिन्दुओं को सिखाया जाता है कि केवल ब्राह्मण ही तुम्हारे गुरु हो सकते हैं—वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः। मनु कहता है—

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेद्भवेत्;
यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशङ्कितः।

अर्थात् धर्म की जिन बातों का विशेष रूप से वर्णन नहीं यदि उन के विषय में पूछा जाय, तो उत्तर यह होना चाहिए कि ब्राह्मण जो कि श्रेशिष्ट हैं, जिस का प्रतिपादन करें, निस्सन्देह वही कानून या धर्म है।

जब ऐसी बौद्धिक श्रेणी जो बाकी समाज को अपनी मुट्ठी में किए हुए है, जाति-भेद के सुधार के विरुद्ध हो तो जाति-भेद को तोड़ने के लिए खड़े किए गये आन्दोलन की सफलता के संयोग मुझे बहुत ही कम दिखाई देते हैं।

जाति भेद के टूटने में दूसरी रुकावट यह है कि जाति-भेद के दो रूप हैं। अपने एक रूप में यह मनुष्यों को अलग अलग बिरादरियों में बाँटता है। अपने दूसरे रूप में इसने इन बिरादरियों को सामाजिक स्थिति में एक दूसरे के ऊपर क्रमबद्ध शृङ्खला में

रख दिया है। प्रत्येक जाति को इस बात का अभिमान और ढाढ़स है कि जातियों के क्रम में मैं किसी दूसरी जाति से ऊपर हूँ! इस क्रम-विन्यास के बाहिरी चिन्ह के रूप में सामाजिक और धार्मिक अधिकारों का भी क्रम-विन्यास है। इन अधिकारों को अष्टाधिकार और संस्कार कहते हैं। किसी जाति का पद जितना ऊँचा है उस के अधिकारों कीं संख्या उतनी ही अधिक है, और जितना पद नीचा है उतनी ही उनकी संख्या कम है। अब यह क्रम-विन्यास, यह जातियों की शृंखला सब लोगों को मिल कर जाति-भेद के विरुद्ध संगठित नहीं होने देती। यदि कोई जाति अपने से ऊपर वाली जाति के साथ रोटी-बेटी-सम्बन्ध के अधिकार का दावा करती है, तो धूर्त्त लोग जब उसे कहते हैं कि तुम्हे' भी अपने से छोटी जातियों के साथ रोटी-बेटी-सम्बन्ध करना पड़ेगा तो उसे तत्काल चुप हो जाना पड़ता है।

सभी जाति-भेद के दास हैं। परन्तु सभी दासों को एक ससान दुःख नहीं। आर्थिक क्रान्ति लाने के उद्देश्य से सर्वहारा मनुष्य को उकसाने के लिए कार्ल मार्कस ने उन से कहा था, इस क्रान्ति से "तुम्हारी हथकड़ियाँ कट जाने के सिवाय तुम्हारी और कोई हानि नहीं होगी।" विभिन्न जातियों में जिस चलाकी से सामाजिक और धार्मिक अधिकार बाँटे गये हैं, जिससे किसी को कम मिले हैं और किसी को ज़ियादा, उसको देखते हुए आप हिन्दुओं को जाति-भेद के विरुद्ध भड़काने के लिए उसी रणनाद का उपयोग नहीं कर सकते जिस का कार्ल मार्कस ने किया था। जाति-भेद तो एक राज्य के भीतर दूसरा राज्य है। जाति-भेद मिटने से कुछ जातियों के अधिकार और प्रभुता की अधिक हानि होगी और कुछ की कम। इस लिए जाति-भेद के दुर्ग पर

आक्रमण करने के लिए आप सब हिन्दुओं के आप की सेना में भरती होने की आशा नहीं कर सकते।

[२१]

पुरोहितशाही पर नियन्त्रण की आवश्यकता

हिन्दू-जनता को जाति-भेद के रोग से मुक्त करने के लिए आवश्यक है कि (१) बाक़ी सब पुस्तकों को छोड़ कर एक ही धर्म-ग्रन्थ रक्खा जाय जो सभी हिन्दुओं को मान्य हो। जो मनुष्य दूसरी पुस्तकों में लिखे सिद्धान्तों को धर्म-सिद्धान्त बता कर प्रचार करे उसे दण्डनीय ठहराया जाय। (२) अच्छा हो कि हिन्दुओं में से पुरोहित-शाही की समाप्ति कर दी जाय। परन्तु यह बात असंभव जान पड़ती है। इस लिए पुरोहित का नहीं पद परम्परागत नहीं रहने देना चाहिए। प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को जो अपने को हिन्दू कहता है पुरोहित बनने का अधिकार होना चाहिये। यह कानून होना चाहिए कि कोई हिन्दू तब तक पुरोहित बन सकेगा जब तक वह राज्य द्वारा निर्धारित परीक्षा नहीं पास करेगा और जब तक उसके पास पुरोहित का काम करने की राज्य से मिली हुई सनद न होगी। (३) जिस पुरोहित के पास सनद न हो उसका कराया हुआ कोई संस्कार कानून की दृष्टि में न्याय-संगत न समझा जाय और सनद के बिना पुरोहित का कृत्य कराने वाले व्यक्ति को दण्डनीय ठहराया जाय।(४) पुरोहित भी दूसरे लोक-सेवकों की तरह राज्य का नौकर हो, उसे राज्य से वेतन मिले, और दूसरे नागरिकों के साथ देश के साधारण राज-नियम के अधीन होने के अतिरिक्त वह अपने आचार, विश्वास और पूजा-पाठ के विषयों में राज्य-नियन्त्रण के अधीन हो।

(५) आई-सी-ऐस की तरह पुरोहितों की संख्या भी राज्य की आवश्यकता के अनुसार राज नियम द्वारा परिमित कर दी जाय।

कुछ लोगों को शायद यह बात बड़ी विचित्र जान पड़ेगी। परन्तु इस में क्रान्तिकारी कुछ भी नहीं। भारत में प्रत्येक व्यवसाय नियन्त्रित है। इञ्जीनियरों को पहले दक्षता दिखलानी पड़ती है, डाक्टरों को पहले दक्षता दिखलानी पड़ती है, वकीलों को पहले दक्षता दिखलानी पड़ती है, इसके बाद ही उन्हें अपने व्यवसाय की प्रैक्टिस करने की आज्ञा मिलती है। अपने सारे कार्यकाल में उन्हें न केवल देश के दीवानी और फ़ौजदारी कानून का ही पालन करना पड़ता है वरन् उसके साथ उन के व्यवसाय के लिए निर्धारित विशेष सदाचार का भी पालन करना पड़ता है। पुरोहित ही एक ऐसा व्यवसाय है जिस में दक्षता की आवश्यकता नहीं। हिन्दू-पुरोहित का व्यवसाय ही एक ऐसा व्यवसाय है जो किसी विधान के अधीन नहीं। मानसिक रूप से पुरोहित बेशक भौंदू हो, शारीरिक रूप से वह बेशक उपदंश और प्रमेह जैसे गन्दे रोगों से पीड़ित हो, सदाचार की दृष्टि से वह बेशक गया-बीता हो, वह पवित्र संस्कार कराने, हिन्दू-देवालय की पवित्र से पवित्र जगह में प्रवेश करने, और देवता की पूजा करने योग्य समझा जाता है। हिन्दुओं में यह सब इस लिए सम्भव है कि पुरोहित के लिए पुरोहितों के कुटुम्ब में जन्म लेना ही पर्याप्त है। यह सारी बात घृणा के योग्य है और इस का कारण यह है कि हिन्दुओं में पुरोहित वर्ग न तो राजनियम के अधीन है और न सदाचार के। यह अपना कोई कर्तव्य नहीं समझता। यह तो केवल अपने अधिकार और प्रभुता ही जानता है। यह एक ऐसा अनिष्टकारी जन्तु है जो जगदीश्वर ने जनता की मानसिक और नैतिक अधोगति के

लिए खुला छोड़ दिया है। पुरोहित श्रेणी को ज़रूर ही किसी कानून द्वारा नियन्त्रण में लाना चाहिए। इस से उस की शरारत रुक जाएगी और वह जनता को पथ-भ्रष्ट न कर सकेगी। इस का मार्ग सब के लिए खुल जाने से यह व्यवसाय प्रजातन्त्री हो जाएगा। इस से ब्राह्मणी धर्म (Brahmanism) को मारने और जाति-भेद का नाश करने में सहायता मिलेगी, क्योंकि जाति-भेद मूर्तिमान ब्राह्मणी धर्म के सिवा और कुछ नहीं। ब्राह्मणी धर्म वह विष है जिसने हिन्दू-धर्म को नष्ट कर डाला है। ब्राह्मणी धर्म का नाश कर के ही आप हिन्दू धर्म को बचा सकते हैं। इस सुधार का किसी को भी विरोध नहीं करना चाहिए। आर्य समाजियों को भी इस का स्वागत करना चाहिए। क्योंकि यह उन के अपने गुण-कर्म के सिद्धान्त का ही प्रयोग है।

यह बात हो सके या न हो सके, परन्तु एक बात तो अवश्य करनी चाहिए। हमें अपने धर्म का नवीन सैद्धान्तिक आधार बनाना चाहिए। वह आधार ऐसा हो जो स्वाधीनता, समता और बन्धुता, सारांश यह कि प्रजातन्त्र के अनुरूप हो। इस के लिए सारी सामग्री हमारे उपनिषदों से मिल सकती है। इस का अर्थ जीवन की मौलिक भावना में पूर्ण परिवर्तन होगा। इस का अर्थ नया जीवन होगा। परन्तु नवीन जीवन नवीन शरीर में ही प्रवेश कर सकता है। नवीन शरीर के अस्तित्व में आने के पहले पुराने शरीर का मर जाना आवश्यक है।

---

[२२]

हिन्दुओं के विचारार्थ कुछ प्रश्न

अन्त में हिन्दू जाति के विचारार्थ मैं कुछ प्रश्न रखता हूँ:—

१— हिन्दुओं को सोचना चाहिए कि क्या मनुष्य-विज्ञान के इस नम्र सिद्धांत को ही ग्रहण कर लेना पर्याप्त है कि संसार के विभिन्न लोगों में पाये जाने वाले विश्वासों, स्वभावों, सदाचारों और जीवन के दृष्टि-कोणों के विषय में सिवा इस के कि वे बहुधा एक दूसरे से भिन्न होते हैं और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं; या क्या इस बात को मालूम करने का यत्न करने की आवश्यकता नहीं कि किस प्रकार के नैतिक चरित्र, विश्वास, स्वभाव और दृष्टि-कोण ने सब से उत्तम काम दिया है और जिन में यह मौजूद थे उन्हें बढ़ने-फूलने, मज़बूत बनने, पृथ्वी को बसाने और उस पर राज्य करने में समर्थ बनाया है।

प्रोफेसर कार्वर कहते हैं—"नैतिक पसन्दगी और ना-पसन्दगी की सङ्गठित व्यञ्जना के रूप में नैतिक चरित्र और धर्म जीवन-संग्राम में रक्षा और आक्रमण के वैसे ही सच्चे शस्त्र समझे जाने चाहिएँ जैसे कि दाँत और पञ्जे, सींग और छल्ले, पोस्तीन और रोएँ हैं। जो सामाजिक समूह, मण्डली, जाति या राष्ट्र नीति-शास्त्र की अव्यवहार्य योजना बना लेता है, या जिस के भीतर वे सामाजिक काम, जो इसे निर्बल और बच कर जीते रहने के अयोग्य बनाते हैं, नित्य पसन्द किए जाते हैं, और इस के विपरीत, जो उसे सबल और विस्तार के योग्य बना सकते हैं, नित्य नापसन्द किए जाते हैं, वह अन्ततः मिट जाता है। यह पसन्दगी और नापसन्दगी के स्वभाव ही हैं (यह धर्म और

नैतिक चरित्र के परिणाम होते हैं)जो इसे वैसी ही वास्तविक रीति से बाधा देते हैं जैसे एक ओर दो पंख होना और दूसरी ओर कोई भी न होना मक्खियों के समूह के लिए असुविधा उत्पन्न करेगा। एक पद्धति भी वैसी ही अच्छी है जैसी दूसरी, ऐसा तर्क करना एक की अवस्था में वैसा ही व्यर्थ होगा जैसा दूसरे की अवस्था में।"

इस लिए नैतिक चरित्र और धर्म केवल पसन्द और नापसन्द की ही बातें नहीं। हो सकता है कि आप नैतिक चरित्र की किसी ऐसी योजना को बहुत अधिक नापसन्द करें, जिस पर यदि सारे का सारा राष्ट्र आचरण करे तो वह पृथ्वी-तल पर सब से बलवान् राष्ट्र बन सकता है। तो आप के नापसन्द करते हुए भी ऐसा राष्ट्र बलवान् हो जाएगा। हो सकता है, आप नैतिक चरित्र की एक ऐसी योजना और न्याय के एक ऐसे आदर्श को बहुत ही पसन्द करें जिस पर यदि सारे का सारा राष्ट्र आचरण करने लगे तो वह दूसरे राष्ट्रों के साथ संग्राम में ठहरने के अयोग्य हो जायगा। तो आप की प्रशंसा के रहते हुए भी वह राष्ट्र अन्त को नष्ट हो जायगा। इसलिए हिन्दुओं को अपने नीति-शास्त्र और धर्म की परीक्षा अपने बच कर जीते रहने की दृष्टि से करनी चाहिए।

२—हिन्दुओं को सोचना चाहिए कि क्या उन्हें अपने सारे के सारे सामाजिक पैतृक धन को रक्षित रखना ठीक है, या जो कुछ उपयोगी है उसे छाँट कर आने वाली पीढ़ियों को केवल उतना ही देना उचित है।

प्रोफेसर जान डीवे (John Dewy) कहते हैं :—

"Every society gets encumbered with what is trivial, with dead wood from the past and with what is positively perverse......As a society becomes more enlightened, it realizes that it is responsible not to conserve and transmit the whole of its existing achievements, but only such as make for a better future society."

अर्थात्—"प्रत्येक समाज तुच्छ बातों से, अतीत के मृत काष्ठ से और उस चीज़ से जो निश्चित रूप से चिरचिरी है भारग्रस्त हो जाता है। जब समाज अधिक प्रबुद्ध हो जाता है, तो वह अनुभव करता है कि वह अपने सम्पूर्ण वर्तमान उत्तम कार्यों की नहीं, वरन् केवल उन्हीं कार्यों की रक्षा करने और अगली पीढ़ी को देने के लिए उत्तरदायी है जो भावी समाज को अच्छा बनायँगे"।

इसी प्रकार बर्क (Burke) कहता है :—

"A state without the means of some change is without the means of its conservation. Without such means it might even risk the loss of that part of the constitution which it wished the most religiously to preserve."

अर्थात्—"जिस राज्य में परिवर्तन का कोई साधन नहीं वह अपने रक्षण के साधन से रहित है। ऐसे साधन के बिना शासन-विधान के उस भाग से भी उसके हाथ धो बैठने का भय है

जिस को वह बड़ी चिन्ता के साथ बचाना चाहता था।"

बर्क ने जो कुछ राज्य के सम्बन्ध में कहा है वह समाज पर भी समान रूप से लागू होता है।

हिन्दुओं को सोचना चाहिए कि क्या उन्हें अतीत के आदर्शों की पूजा करना बन्द नहीं कर देना चाहिए। अतीत की पूजा का अनिष्टकर प्रभाव क्या होता है, इसका वर्णन करते हुए प्रोफेसर डीवे कहते हैं—

"An individual can live only in the Present. The Present is not just something that comes after the past; much less something produced by it. It is what life is in leaving the past behind it. The study of past products will not help us to understand the present. A knowledge of the past and its heritage is of great singnificance when it enters into the present, but not otherwise. And the mistake of making the records and remains of the past the main material of education is that it tends to make the past a rival of the present and the present a more or less futile imitation of the past."

अर्थात्—कोई व्यक्ति केवल वर्तमान में ही जी सकता है। वर्तमान ठीक वही नहीं जो अतीत के पीछे आता है, और न वही जिसे अतीत उत्पन्न करता है। अतीत को पीछे छोड़ देने के बाद जो कुछ जीवन होता है वही वर्तमान है। अतीत काल

की उपजों का अध्ययन वर्तमान को समझने में हमें सहायता न देगा। अतीत और उसके दाय का ज्ञान केवल तभी बहुत महत्व रखता है जब वह वर्तमान में प्रवेश करता है, अन्यथा नहीं। और अतीत की बची खुची चीज़ों और मिसलों को शिक्षा की प्रधान सामग्री बनाने में भूल यह है कि इस से अतीत के वर्तमान का प्रतिद्वन्द्वी और वर्तमान के अतीत का न्यूनाधिक व्यर्थ प्रतिरूप बन जाने का भय रहता है।"

जो सिद्धान्त जीने और बढ़ने की वर्तमान क्रिया को तुच्छ बताता है, वह स्वभावतः वर्तमान को शून्य और भविष्य को दूर की वस्तु समझता है। ऐसा सिद्धान्त प्रगति के लिए अपकारी और जीवन के प्रबल और अटल प्रवाह के लिए बाधक है।

३—हिन्दुओं को इस बात पर विचार करना चाहिए कि क्या अभी तक उन के लिए इस बात को स्वीकार करने का समय नहीं आया कि कोई भी वस्तु स्थिर नहीं, कोई मी वस्तु अपरिवर्तनीय नहीं, कोई भी सनातन नहीं; प्रत्येक वस्तु बदल रही है, व्यक्तियों और समाज के लिए परिवर्तन ही जीवन का नियम है। एक बदलते हुए समाज में पुरानी कीमतों का अविरल रूप से बढ़ते-घटते रहना आवश्यक है। हिन्दुओं को इस बात को स्वीकार करना चाहिए कि यदि मनुष्यों के कर्मों की जाँच के लिए किसी कसौटी का होना ज़रूरी है तो उस कसौटी का संशोधन करने के लिए भी उन का हर वक्त तैयार रहना आवश्यक है।

[२३]

उपसंहार

भारत में जाति-भेद, निस्सन्देह मूलतः हिन्दुओं के ही भीतर से निकली हुई गन्दी भड़ाम है। इस ने सब कहीं वायुमण्डल को दूषित कर दिया है और सिक्ख, मुसलमान, ईसाई सब में इस का विष फैल गया है। इस लिए लाहौर का जात-पाँत तोड़क मण्डल सिक्ख, मुसलमान और ईसाई आदि उन सब लोगों की भी सहायता का पात्र है जिन में संसर्ग-दोष से यह जात-पाँत का रोग फैल गया है। मण्डल का काम एक राष्ट्रीय काम है, परन्तु यह दूसरे राष्ट्रीय काम, अर्थात् स्वराज्य से कहीं अधिक कठिन है। स्वराज्य के संग्राम में जब आप लड़ते हैं तो सारा राष्ट्र आप के पक्ष में होता है। परन्तु इस काम में, मण्डल को सारे राष्ट्र के विरुद्ध लड़ना पड़ता है और वह राष्ट्र भी कोई दूसरा नहीं, अपना ही है। परन्तु यह काम स्वराज्य से भी अधिक महत्वपूर्ण है। स्वराज्य लेने से कुछ लाभ नहीं, यदि हम उस की रक्षा नहीं कर सकते। स्वराज्व की रक्षा करने के प्रश्न से भी अधिक महत्वपूर्ण बात स्वराज्य में हिन्दुओं की रक्षा करने का प्रश्न है। मेरी सम्मति में हिन्दू-समाज के जाति-भेद के महारोग से छुटकारा पाने के बाद ही उसमें अपनी रक्षा के लिए पर्याप्त शक्ति आने की आशा की जा सकती है। इस भीतरी शक्ति के बिना, डर है कि स्वराज्य हिन्दुओं के लिए दासता की ओर एक पग मात्र ही सिद्ध न हो।

इति

जाति-भेद पर एक पाश्चात्य राजनीतिज्ञ की सम्मति—

"The effect of this permanent maintenance of human types is that population is hetrogeneous to the last degree. It is no question of rich and poor, of town and country, of employer and employed ; the differences lie far deeper. The population of a district or town is a collection of different nationalities—— almost different species——of mankind, that will not eat or drink or intermarry with one another, and that are governed in the more importan affairs of life by committees of their own. It is hardly too much to say that by the caste system the innabitants of India are differentiated into over 2000 species which, in the intimate physical relations of life, have as little in common as the inmates of a zoological garden.

A land thus socially atomised and politically split into many principalities was clearly predestined to fall before the first strong invader. This invader was Islam. Beginning with border raids, Moslem attacks culminated in a series of great invasions......The Moslem invaders enjoyed two notable advantages : they were fanatically united against Hindus, whom they loathed as worshippers of idols, and they made many converts among the native population. The very opposite of Hinduism, Islam, with its doctrine that all believers are brothers, could not fail to attract multitudes of low castes and outcastes, who by conversion to Islam might rise to the status of the conquerors. This is chief reason why the Mohammadans of India to-day number nearly 78,000,000 —well over $\frac{1}{5}$ of the population. These Indian Moslems are descended, not solely from Afghan, Turkish and Persian invaders but far more from the millions of Hindu converts who embraced Islam at one time or another"-*Clashing Tides of Colour*, by lothrop Stoddards, P. 285-286.

अंतरजातीय विवाह

लेखक

संतराम, बी० ए०

प्रकाशक

जात-पाँत-तोड़क मंडल,

लाहौर

कार्त्तिक, संवत १९८६

प्रथम बार २००० मूल्य -)

अंतरजातीय विवाह

सन् १९१८ में माननीय श्रीयुत वी० जे० पटेल (वर्तमान प्रधान, लेजिस्लेटिव असेंबली) ने एक बिल पेश किया था। उस बिल का उद्देश्य दो भिन्न-भिन्न जातियों के हिंदुओं में होनेवाले विवाह को क़ानून की दृष्टि में धर्मसंगत और जायज़ ठहराना था। कारण, इस समय कुछ पुराने ढर्रे के लोगों के प्रभाव से सरकार ने जिसको हिंदू-क़ानून समझ या बना रक्खा है, उसके अनुसार दो भिन्न जातियों के हिंदुओं के बीच होनेवाले विवाह की संतान धर्मसंगत नहीं, और वह अपने बाप-दादे की पैतृक संपत्ति पाने का अधिकार नहीं रखती। श्रीयुत पटेल का बिल उस जाति-पाँति-तोड़क संतान को पैतृक संपत्ति पाने का अधिकार दिलाना चाहता था। पर कई कारणों से उस समय इस बिल को भविष्य में मिलनेवाली रीफ़ार्म्ड असेंबली में पेश करने के लिये स्थगित कर देना उचित समझा गया। उन दिनों लाहौर की सनातन-धर्मसभा ने श्री० अमृतलाल राय रिटायर्ड हिंदू "अर्नेलिस्ट" नाम के एक सज्जन से बिल के विरुद्ध अँगरेज़ी में बड़े साइज़ के २८ पृष्ठ का एक पैंफलेट लिखाकर छपाकर बाँटा था। इसमें जाति-पाँति तोड़ने के विरुद्ध अनेक युक्तियाँ दी गई हैं, और हिंदू-अंतर-जातीय विवाह को हिंदू-समाज के लिये घोर हानिकारक बताकर वायसराय से प्रार्थना की गई है कि बिल को स्वीकृति न दें। उसी पैंफलेट की युक्तियों की आलोचना इस लेख में करने का यत्न किया गया है।

अपनी आलोचना से पहले हम यहाँ श्रीरवींद्रनाथ ठाकुर की 'भारत-

सेवक'-नामक पत्र में प्रकाशित उस चिट्ठी का अनुवाद भी दे देना चाहते हैं, जो महाकवि ने पटेल-बिल के समर्थन में लिखी थी।

(डॉक्टर सर रवींद्रनाथ की चिट्ठी)

यह देखकर लज्जा होती है कि हमारे कई देश-बंधु इस धारणा से इस बिल का विरोध कर रहे हैं कि यदि यह पास हो गया, तो इससे हिंदू-समाज की हानि होगी। वे यह नहीं सोचते कि जो लोग पहले ही समाज की वेदी पर अपना बलिदान करने को तैयार हैं, उन पर किसी शासक-शक्ति की ओर से और अधिक निष्क्रिय या सक्रिय कठोरता करके उनके अंतःकरण के विरुद्ध उन रूढ़ियों का पालन करने पर विवश करना उचित नहीं, जिनका आधार नैतिक नियम नहीं। यह कहना कि हिंदू-समाज तब तक क़ायम नहीं रह सकता, जब तक इसमें ऐसे दुःखी लोग न हों जिनको झूठ और कायरता का जीवन व्यतीत करना पड़ता है, दूसरे शब्दों में यह कहना है कि ऐसे समाज के रहने की बिलकुल ज़रूरत नहीं। इसके अतिरिक्त ऐसा परिणाम हिंदू-धर्म की आत्मा पर एक लांछन है। इतिहास बताता है कि महाभारत-काल से लेकर अब तक जब कि एक विदेशी सरकार ने हमारे समाज-रूपी शरीर को, जीवन की लचक से वंचित करके, अपने कड़े क़ानूनों के द्वारा निश्चेष्ट पत्थर-सा बना दिया, और चेतना-शून्य करके मृत्यु के अधिक निकट पहुँचा दिया है, हिंदू-समाज भिन्न-भिन्न मतों और रीतियों को अपने में स्थान देता, भिन्न-भिन्न जातियों को आपस में मिल जाने और नवीन सामाजिक प्रबंध करने की आज्ञा देता रहा है। इसमें संदेह नहीं कि जो लोग अपने लिये आप सोचते और कर्म करते हैं, और जिनमें मानसिक और नैतिक स्वतंत्रता के लिये अजेय प्रेम होता है, सब कहीं समाज उनको संदेह की दृष्टि से देखता और उनके साथ वैरी का-सा बर्ताव करता है। परंतु जो समाज सहनशीलता की सभी सीमाओं का उल्लंघन कर देता है, जो ऐसे

मनुष्यों के लिये उसके मंडल में रहना असंभव बनाने में कोई कम नहीं उठा रखता, जिनमें अपने विश्वास पर चलने का साहस और ईमानदारी है और जो इस कारण सत्य और पुण्य के लिये संग्राम करने के लिये अमीष्ट उपयुक्त हैं, इस समाज के भाग्य में दासों की अनंत पीढ़ियाँ उत्पन्न करना अवश्यंभावी है। जहाँ समाज अपने अत्याचार के शस्त्र इतने भयंकर रूप से चलाता है, वहाँ किसी विदेशी सरकार से अपील करना कि वह अपनी स्वीकृति से किसी सामाजिक अत्याचार को और भी कम कर दे, लोगों से उनके अंतः-करण की स्वतंत्रता छीन ले, और दूसरे ही दिन उसी सरकार से एक अधिक लंबी-चौड़ी राजनीतिक स्वाधीनता माँगना बड़ी लज्जा की बात है। जो लोग राज्य की संगठित शक्ति से प्रार्थना करते हैं कि वह, अपनी प्रत्यक्ष सहायता द्वारा या उस संबंध में आँखें मीचकर, दुर्बल अल्प संख्या को बहुत ही बुरे प्रकार की सामाजिक दासता के अधीन होने पर विवश करे, निश्चय ही वे उस राज्य-शक्ति में भाग लेने के अधिकारी नहीं।"

अपने बिल को पेश करते समय श्रीयुत पटेल ने कहा—

"वर्तमान हिंदू-क़ानून का जो आशय इस समय अदालतों में लिया जाता है, उसके अनुसार हिंदू-विवाह में वर और वधू का एक ही जाति के होना आवश्यक है। श्रीमन्, इस आशय से, जैसा कि मैं अपने 'उद्देश्यों और कारणों' में कह चुका हूँ, व्यक्तिगत अवस्थाओं में घोर कठिनाइयाँ उत्पन्न हो रही हैं। अपने कथन के समर्थन में मैं केवल दो ही उदाहरण देता हूँ। ये दोनो मुक़द्दमे बंबई-हाईकोर्ट ने फ़ैसल किए थे।

( ) १६ वर्ष की एक लड़की ने एक दूसरी जाति के युवक से विवाह किया। वे २५ वर्ष इकट्ठे रहे और विवाह से उनके आठ बच्चे हुए। तब ऐसा हुआ कि पति ने पत्नी का परित्याग कर दिया। एक

हिंदू देवी होने के कारण वह नौ वर्ष तक अदालत में नहीं गई, परंतु ऐसा जान पड़ता है कि अंत को बुढ़ापे और भूख से तंग आकर उसे गुज़ारा पाने के लिये अदालत में नालिश करनी पड़ी। अदालत ने फ़ैसला दिया कि क्योंकि वर और वधू दोनो एक जाति के नहीं, इसलिये हिंदू-क़ानून के अनुसार विवाह जायज़ नहीं। इसलिये वह अपने पति की दासी या रखेल के तौर पर भी उससे कोई गुज़ारा न ले सकी। वह रखेल भी सिद्ध न हो सकी, क्योंकि उसके लिये क़ानून निरंतर रूप से इकट्ठा रहना चाहता है, और हिंदू-स्त्री की लज्जा ने उसे नौ वर्ष तक अदालत में जाने से रोके रक्खा। सिविल कांट्रेक्ट या रिप्रिज़ंटेशन का कोई भी सिद्धांत उसे सहायता न दे सका, और बेचारी के पास कोई चारा न रहा। यह केस १४ बांबे लॉ रिपोर्टर के पृष्ठ ५४७ पर 'काशी बनाम जमनादास' छपा है।

(२) दूसरा केस २ बंबई लॉ रिपोर्टर के पृष्ठ १२८ पर 'लक्ष्मी बनाम कल्याणसिंह' छपा है। उस केस में कल्याणसिंह राजपूत ने लक्ष्मी ब्राह्मणी से विवाह किया। लक्ष्मी को उसके पति के घर से ले जाया गया और उसके साथ रहने न दिया गया। इसलिये कल्याणसिंह ने अपनी स्त्री लेने के लिये अदालत में नालिश की। तब यह निर्णय हुआ कि यद्यपि सचमुच विवाह हो चुका है, परंतु क़ानून की दृष्टि में यह कोई विवाह नहीं, क्योंकि वर और वधू दोनो एक जाति के नहीं। इसलिये कल्याणसिंह पत्नी-रूप से उसको अपने पास रखने का अधिकारी नहीं।

व्यक्तिगत दशाओं में इन कठिनाइयों के सिवा भी विवाह सारे नागरिक जीवन का आधार है। यथासंभव उत्तम विवाह होने पर ही घर का सारा सुख, जाति की शक्ति और आत्म-सम्मान, और राष्ट्र का आत्म-विश्वास तथा उन्नति निर्भर है।

ऐसे विवाहों के रास्ते में जितनी भी अनावश्यक रुकावटें हैं, उनका

अहितकर प्रभाव होना स्वाभाविक है, और इस आधार पर बाधा देना कि वर और वधू एक जाति के नहीं, एक नहीं, अनेक प्रकार से अनिष्ट-कर है। वे जाति-पाँति की कोठरियों को तंग करते हैं। इससे अपने ही अंदर संतान पैदा करने की क्रिया निरंतर जारी रहती है, और सदोष, असहाय और निस्तेज संतान उत्पन्न होती है।

बचपन के विवाह और विधवाओं को निकाल देने, स्त्रियों को बेचने, ख़रीदने, बदला करने, यहाँ तक कि अस्थायी पत्नियों के रूप में किराए पर लेने-जैसी बुराइयों का कारण यही है। इनसे जातियाँ, जिनमें कई इतनी छोटी हैं कि उनमें केवल आठ व्यक्ति हैं, सदा के लिये बना रहती हैं। ये जातियाँ व्यभिचार के विवाहों, जहाँ स्त्रियों की संख्या अधिक है वहाँ एक पुरुष के अनेक स्त्रियाँ करने, और जहाँ लड़कियों की कमी है, वहाँ गृह-हीन व्यभिचार के जीवन का कारण होती हैं। ये और दूसरी बुराइयाँ एक दूसरी पर क्रिया तथा प्रतिक्रिया करती हैं, और सब बुराइयाँ पुष्ट होकर और बुराइयों को बढ़ाती हैं।

वर्तमान क़ानून में परिवर्तन की आवश्यकता अनेक लोग अनुभव कर रहे हैं। कट्टर-से-कट्टर सनातनी भी जानते हैं कि अपनी जाति के भीतर अपने पुत्र और पुत्रियों के लिये योग्य कन्या और वर मिलना बहुधा कितना कठिन होता है, और अनमेल विवाहों के कारण किस प्रकार पति-पत्नी अपने वैवाहिक कर्तव्यों का परित्याग कर देते हैं, कैसे विपत्तियाँ और सामाजिक दुःख उत्पन्न होते हैं, किस प्रकार बहन और भाई में अपने बच्चों के लिये ऐसी कन्या या वर पाने के लिये प्रतिद्वंद्विता शुरू हो जाती है, और उनमें झगड़े खड़े हो जाने से वे आयु-भर के लिये एक दूसरे के शत्रु बन जाते हैं, किस प्रकार रँडुवे या बड़ी अवस्था के पुरुष या तो छोटी बच्चियों से विवाह कर लेते हैं या अविवाहित रहते हुए स्वस्थ नैतिक जीवन के मार्ग से भटक जाते हैं। अपने इस अनाचार का जो बुरा प्रभाव उनके बच्चों तथा इर्द-गिर्द के

लोगों पर पड़ता है, उसे वे सोचते तक नहीं और न इसकी परवा ही करते हैं। एक अच्छे लड़के या लड़की को कहीं कोई दूसरा न फुसला ले जाय, इस विचार से विवाह में बहुत जल्दी की जाती है। इसमें सात्विक मानुषी भावों और अच्छी भावनाओं की कुछ भी परवा नहीं की जाती। लड़कियों के ख़रीदने, बेचने, बदला करने, या अनिवार्य रूप से दहेज़ देने, को बहुत-से जाति-पाँति के कट्टर पक्ष-पोषक भी नहीं मानते ; परंतु वे मजबूर हैं।"

श्रीयुत पटेल के बिल का समर्थन अनेक सज्जनों ने किया। उनमें से मिस्टर जिन्नाह, डॉक्टर तेजबहादुर सप्रू, श्री० श्रीनिवास शास्त्री, माननीय राजा सर रामपालसिंह, श्री० सुरेंद्रनाथ बैनर्जी, और राव-बहादुर बी० एन्० शर्मा का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

डॉक्टर तेजबहादुर सप्रू ने कहा कि जो लोग इस बिल का विरोध करते हैं, वे इसको समझने में भूल करते हैं। यह कट्टर विचार के लोगों पर आक्रमण नहीं। इसका उद्देश्य उन लोगों की रक्षा करना है, जो पौराणिक हिंदू-धर्म के सभी सिद्धांतों और विश्वासों को मानने को तैयार नहीं।

राजा सर रामपालसिंह ने कहा—"मैं इस कौंसिल में हिंदू-विवाह-बिल को पेश करने की आज्ञा देने का विरोध करने खड़ा हुआ हूँ। मैं हिंदू-समाज की जाति-पाँति को नहीं मानता, और मेरा दृढ़ विश्वास है कि जब तक हिंदू जाति-पाँति के ग़ुलाम हैं, तब तक आधुनिक युग की सभ्यता में उनके ऊपर उठने और संसार की जातियों में उच्च स्थान पाने की बहुत कम आशा है। अब पुराने समय से बहुत परिवर्तन हो चुका है। जाति-पाँति उन स्मरणातीत युगों के शायद अनुकूल रही हो, परंतु यह वर्तमान अवस्थाओं के अनुकूल बिलकुल नहीं रही। कालांतर में इसकी स्वाभाविक मृत्यु अवश्यंभावी है।"

मिस्टर श्रीनिवास ने कहा—"यदि मिस्टर पटेल वर्तमान अवस्था में

अपने बिल को वापस ले लें, तो मैं संतुष्ट हूँ। परंतु यदि वे इसे पेश करने की आज्ञा के लिये ज़ोर दें, तो मैं अपने विश्वास और अपनी अंतरात्मा के आदेश को मानते हुए इसका हार्दिक समर्थन करने पर विवश हूँ।''

अब इस पर मिस्टर अमृतलाल राय की आपत्तियाँ और उनका उत्तर सुनिए। मिस्टर राय कहते हैं—

''हिंदुओं का एक बहुत बड़ी संख्या वर्तमान अवस्था से संतुष्ट है। यदि वे संतुष्ट न होते, तो वे आप ही इसका कुछ उपाय करते, जैसा कि अपने प्राचीन इतिहास में करते रहे हैं। विवाह का बाज़ार अभी इतना भी तंग नहीं हुआ कि एक ही जाति के भिन्न-भिन्न प्रांतों में बसनेवाले लोगों के बीच विवाह की समस्या को हल करने की ज़रूरत का अनुभव हो, यद्यपि यह बात उनके शास्त्रों और बद्धमूल भावों के उतनी विरुद्ध नहीं। ऐसी अवस्था में किसी को जाति-पाँति तोड़कर विवाह करके हुतात्मा बनने की क्या आवश्यकता या बहाना हो सकता है, जो कि वर्तमान हिंदू-रिवाज और भावना के भारी विरुद्ध है।

जो भी हो, यह समझ में नहीं आता कि बिना कारण और बिना अवसर जिस-किसी से प्रणय-प्रबंध जोड़ लेना, घर की नौक-रानी के साथ ब्याह कर लेना या साईस के साथ भाग जाना धर्म-वीर कहलाने की कैसे योग्यता हो सकती है।''

उत्तर—आपको देश की स्थिति का ठीक ज्ञान नहीं जान पड़ता, नहीं तो आप ऐसा न कहते। लोग बिरादरियों के संकीर्ण क्षेत्रों से तंग हैं, पर आप-जैसे कट्टर पौराणिकों ने उनको इतना भयभीत कर रक्खा है कि उनमें विवाह के लिये जाति से बाहर जाने का साहस ही नहीं रहा। क्या पिछले दिनों पं० मदनमोहन मालवीय के समधी पं० लक्ष्मीकांत भट्ट ने धर्मवीर बनने के भाव से अपनी पुत्री का विवाह मालवीय बिरादरी से बाहर किया था, जिसके लिये माल-

पीयजी ने उन्हें जाति से निकाल दिया था ! मालूम होता है, आपके कोई पुत्र-पुत्री विवाह योग्य नहीं। हम पूछते हैं, क्या नल से पानी पीना, रेल में भोजन करना, गाय के सारस से चेचक का टीका कराना, सती-प्रथा का बंद करना, विदेश जाने को बुरा न मानना, विधवा-विवाह सब प्राचीन हिंदू-भावना के अनुकूल हैं और वर्तमान हिंदू-भावना दूषित है। उसे एक स्वस्थ और स्वाधीन मनुष्य की भावना नहीं कहा जा सकता। यह एक कायर, संकुचित-हृदय, भयभीत और अदूरदर्शी मनुष्य की आत्मघात्यारी भावना है यह हमारे लिये कोई मान्य नहीं। जब जाति-पाँति-तोड़क इस भावना को बदल देंगे, जैसे कि आर्यसमाजी, सिक्ख, ब्राह्म, जैन, राधास्वामी, और देवसमाजी बदल रहे हैं, तो आपको अगली पीढ़ी के लिये वही सुधरी हुई भावना प्राचीन जान पड़ेगी।

नौकरानी और साईस को आप तुच्छ और नीच समझते हैं। यह आपकी उस सदोष मनोवृत्ति का फल है, जिसने हिंदुओं में हाथ के काम के महत्त्व को गिरा रक्खा है। यदि एक दासी रूपवती, गुणवती और सदाचारिणी है, और एक साईस गुणवान् मनुष्य है, तो उसके साथ विवाह करने में क्या दोष है ? क्या महाराज शंतनु ने दासराज की पुत्री सत्यवती से और सावित्री ने सत्यवान लकड़हारे से विवाह नहीं किया था ? क्या व्यासदेव ने दासी से भक्तराज विदुर और क्या महारानी कुन्ती ने सूत (कोचवान) से कर्ण-सा वीर उत्पन्न नहीं किया था ?

आक्षेप—सरकार अँगरेज़ी को जिस बात ने सबसे अधिक लोक-प्रिय बनाया है, वह उसकी विविध बिरादरियों की सामाजिक बातों में हस्तक्षेप न करने और उनकी स्वतन्त्रता को अबाध रहने देने की व्यापक रीति है। इसलिये सरकार को हिंदू-अंतरजातीय विवाह बिल नहीं पास होने देना चाहिए।

उत्तर—यह ठीक है कि किसी विदेशी सरकार का किसी जाति की सामाजिक बातों में हस्तक्षेप करना ठीक नहीं, परन्तु क्या आपको यह बात उस समय नहीं सूझती थी जब सरकार ने यह क़ानून बनाया था कि जाति-पाँति-तोड़क विवाह की संतान पैतृक संपत्ति की अधिकारी नहीं हो सकती ? आपके भाइयों ने जिस समय यह जाति-पाँति बनाकर छोटी जातियों को सदा अपना दास बनाए रखने का कुत्सित उद्योग किया था, उस समय आपके ख़याल के लोगों का राज्य था क्या उस अत्याचार को अब दूर न किया जाय ? एक ओर आप तो क़ानून की सहायता लेकर जाति-पाँति-तोड़कों पर अत्याचार कर रहे हैं, उन्हें अपने पिता की विरासत से वंचित कर रहे हैं, दूसरी ओर जब जाति-पाँति-तोड़क आपके इस अत्याचार को दूर करना चाहते हैं, तो आप सरकार को तटस्थ रहने का उपदेश देते हैं। क्या यह न्याय है ? हिंदुओं का रीति-रिवाज और शास्त्र अछूतों और अंत्यजों के साथ जिस प्रकार के कुत्सित व्यवहार की आज्ञा देता है क्या इस ब्रिटिश-राज्य में भी उसे जारी रक्खा जाय ? क्या अछूतों को पढ़ने-लिखने, साफ़ रहने, धन कमाने और राज्य-प्रबंध में भाग लेने से रोके रक्खा जाय, क्योंकि ये बातें हिंदू-भावना के विरुद्ध हैं ? जब दूसरे समाज जाति-पाँति के बिना जीते रह सकते हैं, तो कोई कारण नहीं कि जाति-पाँति को उड़ा देने पर हिंदू क्यों न जीते रह सकें।

जो वेद-मंत्र एक ही जाति के वर और वधू के विवाह को पवित्र और स्थायी बना सकते हैं, वही भिन्न-भिन्न जातियों के वर-वधू के विवाह को भी पवित्र बना देते हैं। जाति तो आप भी तोड़ते हैं, चाहे थोड़ी तोड़ते हैं या बहुत। यदि आप जाति न तोड़ते होते, तो जोशी जोशियों में, मेहरोत्रा मेहरोत्रों में, और कपूर कपूरों में ही विवाह करता। पर ये सब इससे बाहर विवाह करते हैं।

आप पूछते हैं जाति-पाँति-तोड़क विवाह की संतान की जाति क्या होगी? हमारा उत्तर है जो परशुराम और वशिष्ठ की थी और जो व्यास और कौरव-पांडवों के पूर्वजों की थी, क्योंकि ये सब भी जाति-पाँति-तोड़क विवाहों ही की संतान थे। हम कहते हैं जाति की ज़रूरत क्या है? सम्राट् जार्ज की क्या जाति है? अँगरेज़ों के यहाँ जाति-पाँति नहीं, तो क्या उनका काम अटका हुआ है? आप ख़ुद ही मानते हैं कि त्रेता युग में जाति-पाँति-तोड़क विवाहों का ख़ूब प्रचार था। पीछे से याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति में इनका निषेध कर दिया। भाई, याज्ञवल्क्य ने निषेध कर दिया, तो अब हम फिर एक नई स्मृति — क़ानून — बनाकर उसका विधान कर देते हैं। त्रेता में कलियुग से तो अधिक धर्म था। फिर उस युग के धर्मी लोगों का अनुकरण करना अच्छा है या आप-ऐसे कलियुगी लोगों की हाय-तोबा को सुनना?

आक्षेप—जाति-बंधन को खंड-खंड कर डालना और ऐसी अवस्थाओं में विवाह को हिंदू-विवाह कहना हिंदू-समाज, और उसके प्यारे धार्मिक तथा सामाजिक विश्वासों तथा रिवाजों का घोर अपमान करना है।

उत्तर—कौन-से हिंदू-समाज का? आर्य-समाजी, ब्राह्म-समाजी, देव-समाजी, राधास्वामी, सिक्ख, जैन, प्रार्थना-समाजी? ये हिंदू हैं या नहीं? ये सब और समझदार अछूतों तथा शूद्रों का अधिकांश जाति-पाँति का कट्टर विरोधी है, चाहे वे आप-ऐसे धर्म के ठेकेदारों के फैलाए जाल में फँसे होने के कारण अभी इस माया-जाल को तोड़ने में सफल न हुए हों।

आक्षेप—जाति-पाँति-तोड़क विवाहों से और बहुत-सी नई जातियाँ बन जायँगी। प्रतिलोम-विवाह अर्थात् छोटी जाति के पुरुष का ऊँची जाति की स्त्री के साथ विवाह हिंदुओं में पुरातन काल में

सहन नहीं किया जाता था। इसलिये उनकी संतान को चांडाल-जैसा अत्यंत बुरा नाम दिया जाता था। योरपीय समाज में भी एक उच्च कुल की कन्या का छोटे कुल के पुरुष के साथ विवाह लड़की के परिवार के लिये बड़ा भारी अपयश और उसके अपने लिये भारी पतन समझा जाता है। हिंदू-समाज महादेव के पतन को तो शायद सहन कर ले, पर वह पार्वती का पतन कभी सहन नहीं कर सकता। इससे उनके स्त्रीत्व की पवित्रता और सतीत्व का आदर्श बहुत नीचा हो जायगा। हिंदू-आदर्श अपनी भार्या के सिवा शेष सब स्त्रियों को अपनी माता समझने का आदेश करता है। इसी दिव्य भावना के कारण हिंदू का अपने देवताओं के साथ संबंध है और वह स्त्री-जाति को "देवी" नाम से पुकारता है। सो यहाँ रिवाज का ही प्रश्न नहीं, बल्कि एक बहुत प्रिय आदर्श का भी सवाल है, क्योंकि इस आदर्श को नीचा कर देने से समाज के नैतिक भाव की घोर हानि होगी। हिंदू-समाज और हिंदू-शास्त्र प्रतिलोम-विवाहों को व्यभिचार के समान ही घृणा और भय की दृष्टि से देखते रहे हैं।

उत्तर—जाति-पाँति तोड़क विवाह से नई जातियाँ पैदा नहीं हो सकतीं। देखिए, यदि एक बहुत बड़े हाल (कमरे) में दस-बारह दीवारें डालकर बहुत-सी छोटी-छोटी कोठरियाँ बना रक्खी हों, और यदि कोई उन दीवारों को तोड़ डाले, तो उनके तोड़ने से कोठरियों की संख्या घटेगी ही, बढ़ नहीं सकती। जातियों की संख्या के बढ़ने का भय तब हो सकता है जब जाति-पाँति-तोड़क लोगों का यह नियम हो कि हम केवल आपस में ही विवाह-संबंध करेंगे। जाति-पाँति-तोड़कों का द्वार तो सबके लिये खुला है। वे चाहे जहाँ विवाह कर सकते हैं। गौड़ गौड़ों में और बुँजाही बुँजाहियों में ही विवाह करें, ऐसा उनका कोई सिद्धांत नहीं। और जाति-पाँति केवल विवाह-क्षेत्र की हदबंदी के सिवा और कुछ नहीं।

यह बात सत्य नहीं कि पुरातन काल में उच्च जाति की कन्या का विवाह छोटी जाति के हिंदू के साथ नहीं होता था। देखिए, राजा प्रियव्रत क्षत्रिय ने विश्वकर्मा ब्राह्मण की पुत्री बर्हिष्मती से विवाह किया था। राजा नीप क्षत्रिय ने शुक्र ब्राह्मण की कन्या कृत्वी से और राजा ययाति क्षत्रिय ने शुक्र ब्राह्मण की पुत्री देवयानी से विवाह किया था। प्रमत्ता ब्राह्मणी का विवाह नाई के साथ हुआ, और महामुनि मातंग की उत्पत्ति हुई। (देखो महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय ८२)। कर्दम क्षत्रिय की पुत्री अरुंधती और वेश्या-पुत्र वशिष्ठ मुनि का ब्याह हुआ। इस संबंध से शक्ति-नामक पुत्र जन्मा। शक्ति का विवाह चांडाल-कन्या अदृश्यंती से हुआ। इस संबंध से महर्षि पराशर उत्पन्न हुए।

योरपीय समाज में भी हिंदुओं के समान विवाह में उच्च और नीच का कोई बंधन नहीं। दूर क्यों जाते हो, महाराज पंचम जार्ज की पुत्री ने ही किसी राज-कुल के पुरुष से नहीं, वरन् एक सामान्य पुरुष (Commoner) से विवाह किया है। क्या पादरी की लड़की से जरनैल का लड़का विवाह नहीं करता ? हज़रत अली सैयद थे। उनकी पुत्री उम्म कलसूम का विवाह ग़ैर-सैयद हज़रत उमर से हुआ था।

हिंदू ब्राह्मण का आदर्श जाति से बाहर विवाह करने से नहीं गिरता। यदि एक ब्राह्मण की पठित पुत्री का विवाह एक दूसरों की रोटी बनाकर आजीविका करनेवाले ब्राह्मण नामधारी निरक्षर लड़के के साथ हो, तब तो, आपकी दृष्टि में सतीत्व और ब्राह्मणत्व का आदर्श नीचा नहीं होता, पर यदि वह किसी विद्वान् प्रोफ़ेसर के साथ, जिसको लोग भूल से नाई या कहार कहते हैं, हो जाय, तो वह आदर्श गिर जाता है। कैसा विलक्षण तर्क है ! इस आक्षेप में सिवा झूठे जन्माभिमान के कोई युक्ति और सार भी है ? किसी भी जाति

की स्त्री का किसी भी दूसरी जाति के हिंदू के साथ गुण, कर्म और स्वभाव की अनुकूलता से होनेवाला विवाह एक निष्पक्ष मनुष्य की दृष्टि में व्यभिचार नहीं कहला सकता, यदि वे दोनों सदाचारी हैं और सद्भाव से विवाह करते हैं।

आक्षेप—यह जो कहा जाता है कि जाति-पाँति से द्वेष और वैर-भाव बढ़ता है, इस संबंध में मेरा यह कहना है कि पहले बड़े और छोटे, अमीर और ग़रीब, ऊँचे और नीचे के भेदों को उड़ा लो, तब कहना कि जाति पाँति के भेद को उड़ा दो। जब राजनीतिक और सामाजिक क़ानूनों के अनुसार अमीर मनुष्य का निकम्मा और अयोग्य पुत्र उसकी संपत्ति का वारिस नहीं ठहराया जायगा, बल्कि वह संपत्ति किसी पड़ोसी के योग्य पुत्र को दे दी जायगी, तब कहना कि ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण नहीं और कि शूद्र के सुयोग्य पुत्र को ऊँचा करके ब्राह्मण के अयोग्य पुत्र के सिर पर रख दिया जाय। सब कोई जानता है कि जिस नीच जाति के मुहताज मनुष्य को तुम एक रुपया दो, परंतु उसका छुआ हुआ अन्न-जल न ग्रहण करो, वह तुम्हारा उस दशा की अपेक्षा अधिक कृतज्ञ होगा जब तुम उसकी सहायता के लिये दो तो कुछ नहीं, पर उसके हाथ से लेकर खा-पी लो।

धर्म के सिद्धांत हिंदू को बताते हैं कि सब प्राणी तुम्हारा अपना ही दूसरा रूप हैं (आत्मवत् सर्वभूतेषु)। इससे ब्राह्मण और चमार को एक दूसरे से प्रेम करने और नैतिक दृष्टि से एक दूसरे को भाई समझने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती, चाहे वे उन कारणों से परस्पर विवाह न करें जो सामाजिक रूप से उतने ही प्रबल हैं जितने कि वे जो अमीर को ग़रीब से इतना दूर और इतना निर्दयतापूर्वक अलग रखते हैं। परंतु जाति-पाँति कभी धन के अधीन नहीं हुई। सत्य के समाने, परमेश्वर के सामने, सनातन ब्रह्म के सामने, न जाति-पाँति का, और न संपत्ति, स्थिति या पद का कोई भेद हो

सकता है। सब उस महान् एक में मिल जाते हैं। परंतु मनुष्यों के वर्तमान सामाजिक और घरेलू जीवन की हद-बन्दियों में, जिसमें मेरे और तेरे का सवाल सदा बना रहता है, सर्वजनीन समता या एकत्व संभव नहीं।

उत्तर--छोटा-बड़ा, अमीर-ग़रीब, चपरासी-जज ये सब श्रेणियाँ (classes) हैं, जातियाँ (castes) नहीं। श्रेणियाँ बदलती रहती हैं। एक ग़रीब अपने उद्योग से अमीर बन सकता है। लोहार का पुत्र मसोलिनी आज इटली का शासक है। धीवर-पुत्र हबीबुल्ला उपनाम बच्चा-सक्का अपने बाहुबल से काबुल के राजसिंहासन पर बैठ सकता है। मोची का बेटा लायड जार्ज अपने बुद्धि बल से ब्रिटिश-राज्य का प्रधान मंत्री बन सकता है। परंतु वेदों का पंडित और कर्नल हो जाने पर भी आप एक चमार को ब्राह्मण या क्षत्रिय नहीं स्वीकार करते। जन्म-मूलक जाति-पाँति इसी कारण मानव-समाज की उन्नति में भारी बाधा और अन्याय-मूलक है। अमीर के पुत्र के पास जब तक सम्पत्ति है, तब तक वह अमीर कहलाएगा। उससे धन छीनने की ज़रूरत नहीं। जब उसके पास धन नहीं रहता, तो कोई उसे धनी मानकर उससे ऋण लेने नहीं जाता। इसी प्रकार यदि कोई लड़का अपने विद्वान् और परोपकारी ब्राह्मण-पिता से जन्म के साथ अच्छे संस्कार और सद्वृत्तियाँ विरासत में पाता है, तो उसकी उन ब्राह्मण-वृत्तियों को कोई उससे छीनने को नहीं कहता। वह उन पैतृक संस्कारों के प्रताप से बेशक विद्वान् और मान्य बन जाय। पर जिस निरक्षर और लंठ के पास पिता से मिला हुआ विद्या-धन—ब्राह्मणत्व—तो कुछ नहीं, आप उसे पूज्य और विद्वान् मानने के लिये जनता को क्यों मजबूर करते हैं? वह तो उस सेठ-पुत्र की तरह है, जिसके पास कौड़ी भी नहीं, जो भीख माँगकर गुज़र करता है, पर कहलाना चाहता है करोड़पति। क्या बड़े-बड़े अफ़सरों के अयोग्य

पुत्र उनके चपरासियों के योग्य पुत्रों के अधीन सरकारी कार्यालयों में काम करते नहीं देखे जाते ? क्या सरकार डाकिए के पुत्र को इसलिये पोस्ट-मास्टर बनाने से इनकार कर देती है कि उसके अधीन उन बाबुओं के पुत्रों को क्लर्की करनी पड़ेगी, जो उसके पिता डाकिए के अफ़सर हैं ?

एक आत्म-सम्मान रखनेवाले मनुष्य को धन प्यारा होता है या सम्मान ? एक मनुष्य आपको नीच समझता, आपसे छूकर स्नान करता, और आपसे कुत्तों से भी बदतर सुलूक करता है। यदि वह मनुष्य आपको कुछ धन दे, तो क्या आपका आत्म-सम्मान आपको इस बात की आज्ञा देगा कि आप उससे सहर्ष सहायता लेना स्वीकार करें ? जिस व्यक्ति में चिरकालिक सामाजिक गुलामी ने, भूख और दरिद्रता ने, और अविद्या-अज्ञान ने आत्म-सम्मान के भाव को बिलकुल मार नहीं डाला, वह अपने अपमान करनेवाले—उसे नीच और अछूत समझनेवाले—से कभी सहायता लेना गवारा न करेगा। आप तो अपने को 'परमेश्वर के प्यारे पुत्र' और 'भूदेव' माने बैठे हैं और समझते हैं कि शूद्रों और अछूतों को कोई अधिकार नहीं कि वे हमारे बराबर बन सकें, इसी से आप उनकी नीचता और अपनी उच्चता को प्रमाणित करने के लिये नाना प्रकार की निस्सार और झूठी युक्तियाँ गढ़ रहे हैं। ये सब बातें आपको घर में ही बैठे सूझती हैं। जिस समय अरकाटी लोग ब्राह्मण और भंगी को फँसाकर फ़िजी में ले जाते हैं और वहाँ उन दोनों से पाख़ाना उठवाते हैं उस, समय आपकी जन्ममूलक श्रेष्ठता कहाँ चली जाती है ? किसी को नीच, अछूत या शूद्र कहना और समझना उसकी आत्मा पर भारी आघात करना है। इसका असर शारीरिक चोट से कहीं अधिक घातक होता है। क्या कोई मनुष्य दस जूते खाकर एक रुपया पाना पसंद करेगा ? जब मनुष्य की आत्मा मर जाती है, तभी वह आत्म-सम्मान की अपेक्षा धन से अधिक प्यार करता है।

ब्राह्मण चमार को भाई समझता है, इसका रश्य प्रमाण क्या है? क्या कौंसिल के वोट लेने या सरकार में हिंदुओं की संख्या अधिक दिखाने के लिये हो वह दो उंगल की जीभ से उसे भाई नहीं कहता है? हालाँकि उसका हृदय उसके प्रति घृणा के भाव से भरा पड़ा है। जिन्होंने 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' कहा था, वे आपकी तरह स्वार्थांध होकर मूर्ख को विद्वान् और नीच को उच्च नहीं समझते थे। अमीर और ग़रीब के बीच का भेद उतना दुःखदायी नहीं, जितना ब्राह्मण और भंगी के बीच का। अमीर-ग़रीब तो सारे संसार में हैं, ब्राह्मणों और भंगियों में भी हैं। क्या आप देखते नहीं कि सब ईसाई, बौद्ध और (भारत के सिवा) मुसलमान देशों में कोई जाति-पाँति नहीं? इस दृष्टि से क्या वहाँ सर्वजनीन समता नहीं?

परमेश्वर के सामने और ब्रह्म के सामने ब्राह्मण और भंगी बराबर हैं—ये बेहूदा झाँसे और झूठी दादें अब निकम्मी हो चुकी हैं। क्या ब्रह्म इस दुनिया को नहीं देख रहा है? फिर आप यहाँ क्यों भेद-भाव रखते हैं? ख़ैर, आपका ज़ोर है, तो रखते जाइए। आप तो ब्रह्म के सामने जाकर जाति-पाँति उड़ाने का वचन देते हैं, पर जो लोग आपके अत्याचारों से तंग आ चुके हैं, वे ठीक आपके सामने इस जाति-पाँति को नष्ट करने का उद्योग कर रहे हैं। जो बात ब्रह्म को अच्छी नहीं लगती, मालूम नहीं, आप उसे बनाए रखने पर क्यों एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा रहे हैं?

आक्षेप—जाति-पाँति से हिंदू अपनी उच्चता का नहीं, वरन् अपने जन्म की पवित्रता का गर्व करता है।

उत्तर—जन्म की पवित्रता से आशय यदि माता-पिता से मिलने-वाले रज-वीर्य की पवित्रता से है, तो जितने उपदंश, बवासीर, मिरगी, सूज़ाक, खुजली आदि रोगों से पीड़ित और कुरूप द्विज हैं, उन सबको तंदुरुस्त और सुंदर शरीरवाले अछूतों और शूद्रों से नीच

समझना और उनसे वैसे ही घृणा करनी चाहिए। परंतु यहाँ तो बात यह है कि एक बनिया दूसरे काले कलूटे और उपदंश के मारे हुए बनिए को तो द्विज समझता है पर एक सुंदर, सुडौल और गोरे चमार की छाया पड़ जाने पर स्नान करता है।

आक्षेप—जो लोग प्राचीन हिंदू-प्रथा को तोड़कर अंतरजातीय विवाह करना चाहते हैं और आप उन्हें उनकी आत्मा का आदेश समझकर करने देना चाहते हैं, तो फिर जिनकी आत्मा चाचा, मामा, या फूफी की लड़कियों के साथ विवाह करने को कहती हैं, उनको आप किस मुँह से रोकते हैं?

उत्तर—मामा, चाचा तथा फूफी आदि की लड़कियों से विवाह का निबंध इसलिये आवश्यक है कि इसमें एक ही प्रकार का लहू मिलने (Consanguinity of blood) से संतान रद्दी पैदा होती है। जाति-पाँति तोड़ने में यह दोष नहीं पैदा होता। ईसाइयों में, जहाँ मामा और चाचा की लड़की से विवाह करने की मनाही नहीं, वहाँ जाति-पाँति का बंधन न होने से अधिकांश विवाह परिवार से बाहर ही हुआ करते हैं। इस प्रकार उनमें बाहर से नया लहू अधिक मात्रा में मिलता रहता है। ऐसी दशा में यदि एकाध विवाह मामा या चाचा के यहाँ भी हो जाय, तो उसका उतना बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। जैसे हमारे यहाँ अर्जुन ने सुभद्रा से और पृथ्वीराज ने संयुक्ता से किया था। फिर भी बुद्धिमान् पाश्चात्य विद्वान् इन निकट के विवाहों को बुरा समझकर दूर-दूर विवाह करने का ही प्रचार कर रहे हैं।

आक्षेप—जिस इँगलैंड को स्वतंत्रता का घर और स्वाधीन संस्थाओं का क्रीड़ा-स्थल कहा जाता है, वहाँ भी कैथोलिक लोगों को मनुष्यत्व के अतीव प्रारंभिक स्वत्वों और अंतःकरण की स्वतंत्रता से वंचित रक्खा जाता था। फ्रांस के प्रजा-तंत्र से बढ़कर व्यक्तिगत

स्वतंत्रता कहाँ होगी ? वहाँ भी प्रजातंत्र स्थापित होने के सौ वर्ष बाद तक गुलामों का व्यापार चलता रहा। इँगलैंड में भी सत्तर वर्ष के निरंतर यत्न के बाद ही मृत पत्नी की बहन के साथ विवाह करने-जैसे निर्दोष काम को करने की आज्ञा मिली थी, हालाँकि वहाँ मामा और चाचा की लड़की से विवाह कर लिया जाता है। साली के साथ विवाह की मनाही का कारण यह था कि वहाँ डर था कि पत्नी के जीवन-काल में ही कोई साली से न मिल जाय, जिससे घर का सुख और शांति नष्ट होने का डर है। साली के साथ विवाह करने में समाज में कोई रचना-संबंधी परिवर्तन नहीं होता परंतु हिंदू समाज में जाति से बाहर विवाह करने से जाति-बंधन नष्ट हो जाता है और समाज की रचना पर आघात पहुँचता है। इतना ही नहीं, वरन् संदिग्ध वर्ण (जाति) की या वर्णहीन (जाति-पाँति से रहित) संतान उत्पन्न करके, ऐसे समाज में जहाँ नीचतम जातियों में भी रक्त की शुद्धता ही संभ्रांतपन का चिह्न समझा जाता है, गड़-बड़ पैदा हो जाती है, क्योंकि यह सब कोई जानता है कि हिंदू-समाज में नीच जाति के लोग भी उस मनुष्य को बिरादरी से बाहर निकाल देते हैं, जिसने अपनी जाति से बाहर चाहे अपने से ऊँची जाति के साथ ही विवाह क्यों न किया हो। दोगली संतान बड़े अपमान का कारण समझी जाती है।

उत्तर--परमेश्वर ने मनुष्य को बुद्धि इसलिये दी है कि वह दूसरों की दशाओं को देखकर उससे अपने लिये शिक्षा ले। इतिहास इसलिये पढ़ा जाता है, ताकि जो भूलें दूसरे लोगों ने कीं और हानि उठाई, उन से हम बचे रहें। आग से हाथ जल जाता है, क्या इसको जानने के लिये आग में हाथ डालकर देखने की ज़रूरत है ? क्या कौरवों और पांडवों का इतिहास फूट की हानियों पर विश्वास कराने के लिये पर्याप्त नहीं ? यदि इतना हठ करने पर भी अंत में इँगलैंड को रोमन

कैथोलिक लोगों को सर्वमनुष्यता के स्वत्व देना और सालों के साथ विवाह-निषेध को हटा देना पड़ा, यदि रक्तपात होने के बाद फ्रांस को भी दास-प्रथा बंद करनी पड़ी, तो क्या आप समझते हैं कि इस प्रकार रुकावटें डालने से आप इस भारतीय दास-प्रथा अर्थात् जाति-पाँति को चिरकाल तक बनाए रख सकेंगे ? क्या इतिहास से शिक्षा लेते हुए यही बुद्धिमत्ता नहीं कि आप जाति-पाँति-तोड़क विवाह-बिल को चुपचाप पास हो लेने दें ? इसके लिये लोगों को व्यर्थ का कष्ट सहने पर आप क्यों विवश करते हैं ? जाति-पाँति टूट जाने से हिंदू-समाज नष्ट नहीं हो जायगा। मुसलमान, ईसाई और बौद्ध-समाजों में जाति-पाँति नहीं। वे जाति-पाँति के बिना जीते रह सकते हैं, तो कोई कारण नहीं कि हिंदू-समाज क्यों न रहेगा ? भारत में सब से बड़ा हिंदू-साम्राज्य महाराज अशोक का हुआ है। यह वह समय था जब कि बुद्ध-धर्म के प्रचार से हिंदुओं में जाति-पाँति बिल-कुल मिट चुकी थी। इस समय भी जाति-पाँति को माननेवाला भारत पराधीन है और जाति-पाँति को न माननेवाले सभी पाश्चात्य देश स्वाधीन हैं। संदिग्ध वर्ण और वर्णहीन संतान के झूठे भय को छोड़िए। ये सब कल्पित होए लोगों को जाति-पाँति की क़ैद-कोठ-रियों में बंद रखकर फूट द्वारा उन पर शासन करने के लिये ही बनाए गए थे। क्या वर्णहीन मनुष्य के एक टाँग और एक हाथ होता है ? इँगलैंड में गत महायुद्ध में हज़ारों बच्चे ऐसे पैदा हो गए, जिनके पिता का पता ही नहीं। यह सारी समर-संतान क्या समाज का अंग नहीं बना दी गई ? महाभारत पर दृष्टि डालने से तो सब कहीं वर्णहीन ही मनुष्य देख पड़ते हैं। नीच जाति के लोगों में भी जाति-पाँति का विष आपका ही फैलाया हुआ है। आपने ही उन्हें यह गुरु-मंत्र दिया है।

आक्षेप—जितना जाति से बाहर विवाह करनेवाला हिंदू अपने

परिवार के घरेलू सुख को नष्ट करता है, उतना साक्षी के साथ गाँठ-साँठ करनेवाला अँगरेज़ अपने परिवार में नहीं एक भाई की ऊँची-जाति की स्त्री दूसरे भाई की नीच जाति की स्त्री के । हाथ का बना भोजन खाना तो दूर, उसके साथ वह बैठ भी कैसे सकती है ? ऊँची जाति की स्त्री अपनी नीच जाति की देवरानी को अपने साथ कुल-देवता की पूजा कैसे करने देगी ? इस पर भी इस बिल को अपनी इच्छा का (Permissive) कहा जाता है, मानो संपत्ति के प्रश्न को छोड़कर भी इसका असर वर और वधू के सिवा और किसी पर नहीं । पड़ोस में खुली हुई शराब की दूकान या चकले कोठों में जाने के लिये किसी को मजबूर नहीं किया जाता, फिर भी वह सब के लिये अनिष्टकर सिद्ध होता है । फिर जाति-पाँति तोड़कर विवाह करनेवाला युवक तब तक घरवालों को चैन नहीं लेने देगा, जब तक वह—यदि उसके बाप ने अपनी मृत्यु से पहले ही उसे विरासत से वंचित नहीं कर दिया—संपत्ति बँटवाकर अपने बाक़ी भाइयों से अलग नहीं हो जायगा । इस प्रकार पाए हुए अपने दाय-भाग को वह अपनी स्त्री के साथ भोग-विलास में फूँक डालेगा, किसी को उसके जाति-पाँति तोड़ने पर कोई आपत्ति न होगी, यदि वह बाक़ी परिवार से संपत्ति का भाग न बँटाए और घर छोड़कर अपनी मौज करता फिरे । यह बिल उन कुकर्मियों और लुच्चों को सुभीते के लिये है, जो हिंदू-परिवार की प्रत्येक पवित्र और प्रिय चीज़ को पाँव तले रौंदना चाहते हैं, जो बदमाशी और आवारगी का जीवन व्यतीत करना चाहते हैं ।

उत्तर—जाति-पाँति तोड़ने का एक बड़ा उद्देश्य जन्ममूलक ऊँच-नीच का झूठा भेद-भाव मिटाकर हिंदुओं में समता और भ्रातृभाव पैदा करना है । इसी झूठे भेद-भाव ने हिंदुओं में फूट डालकर उनको टुकड़े-टुकड़े कर रक्खा है । यदि एक मूर्खा जेठानी, आप लोगों की

हानिकारक शिक्षा के कारण, अपढ़, कर्कशा, मैली, कटुभाषिणी और कलह कारणी होते हुए भी केवल इसलिये अपने को उच्च जाति की समझती है कि अज्ञानी लोग उसके निरक्षर पिता को ब्राह्मण या दूध बेचनेवाले पिता को क्षत्रिय नाम से पुकारते हैं. और वह अपनी अशिष्टता, असभ्यता और झूठे अभिमान के कारण अपनी सुशिक्षिता, सुसभ्या, मृदुभाषिणी गुणवती देवरानी को केवल इसलिये घृणा से देखती और उसके साथ बैठना पसंद नहीं करती, क्योंकि आप-जैसे धर्मध्वजी उस सुशिक्षिता देवी के विद्वान् और सदाचारी पिता को अपने जन्म-मूलक कुसंस्कारों और बुद्धि-हीनता के कारण नाई या कहार कहकर नीच समझते हैं, तो इसमें दोष उस जेठानी का है न कि उस जाँति-पाँति-तोड़क जोड़े का। दंडनीय वह दुष्टा जेठानी है न कि वह सुसभ्या देवरानी। पाराशरी और हारीत आदि में तो गुणवती चांडाल-कन्या के साथ भी विवाह करने की आज्ञा है। वहाँ साफ़ लिखा है कि कन्या को छोड़कर चांडाल की शेष सब चीजें और पुत्र अपवित्र होते हैं। फिर जो लोग जाति-पाँति के भीतर विवाह करते हैं क्या वे एक दूसरे से अलग नहीं होते, क्या वे जायदादें नहीं फूँकते, क्या वे एक दूसरे से मुक़द्दमेबाज़ी में पारिवारिक शांति का नाश नहीं करते? यदि जेठानी छोटी जाति की देवरानी के साथ मिलकर कुल-देवता की पूजा नहीं कर सकती, तो वह ऐसे कुल-देवता को अपने पास रक्खे। क्या आजकल एक ही परिवार में एक सनातनधर्मी, दूसरा आर्यसमाजी, तीसरा राधास्वामी, चौथा ब्राह्मो और पाँचवाँ सिक्ख नहीं होता? क्या आप उन सबको घर से निकाल देंगे? देवरानी अपना अलग देव-पूजन कर सकती है। ऐसी उजड्ड जेठानी के साथ बैठने की उसे ज़रूरत ही क्या है? मूर्ख संबंधी से तो साँप अच्छा। कितनी लज्जा की बात है कि आप अंतरजातीय विवाह करनेवालों को कुकर्मी और लुच्चे

कहते हैं। यदि एक ब्राह्मण किसी दूसरे ब्राह्मण-नामधारी मनुष्य की कन्या को भगा ले जाय, तब तो वह आपकी दृष्टि में व्यभिचारी और कुकर्मी नहीं। पर यदि वह किसी क्षत्रा-लड़की से विधि-पूर्वक विवाह कर ले, तो आप उसे लुच्चा कहते हैं। अक़्ल ठिकाने है या कहीं चरने गई है ? क्या परशुराम के पिता यमदग्नि ब्राह्मण जिन्हों-ने क्षत्रिय रेणुका से, शृंगी ब्राह्मण जिसने श्रीरामचंद्र की बहन क्षत्रिया शांता से और अगस्त्य ब्राह्मण जिसने क्षत्रिया मुद्रालोपा से विवाह किया, सब "कुकर्मी और लुच्चे" थे ? धर्मावतार ! ज़रा होश की दवा कीजिए। आपका जाति-पाँति तोड़कर विवाह करने को शराब का दूकान या छुल्ला-कोठी खोलना कहना बुद्धि-विभ्रम से संजीवनी को सुरा समझना है। सच है, विनाशकाले विपरीत बुद्धिः। यदि इस शराब की दूकान का डर है, तो पहले अपने पड़ोसी मुसलमानों और ईसाइयों के विवाह बंद कराइए, जो प्रत्येक जाति की हिंदू-विधवा और सधवा को हड़प कर जाते और डकार तक नहीं लेते। क्या उपर्युक्त पूज्य महार्षियों—यमदग्नि, शृंगी और अगस्त्य—ने शराब की दूकानें खोली थीं ? क्या जाति-पाँति के ढकोसले को तोड़ने के कारण स्वर्गीय देशभक्त सी० आर० दास, लाहौर के प्रसिद्ध व्यापारी लाला हरकिशनलाल और श्रीमती सीताबाई परमानंद, एम० ए० बैरिस्टर Ph. D. (जिन्होंने ब्राह्मण-कुलोत्पन्न होकर लोहार-कुलोत्पन्न श्रीयुत परमानंदजी आई० सी० एस्० के साथ विवाह किया है) जाति-पाँति के ग़ुलामों से कम संभ्रांत नागरिक हैं ?

यदि जाति-पाँति तोड़कर विवाह करने को आप छुल्ला कोठी खोलना समझते हैं, तो जिस समय पूने के उच्च ब्राह्मण-कुल का कन्या मालिनी बाई बी० ए० ने एक मुसलमान ग़ुलाबख़ाँ के साथ विवाह किया था, जिस समय ब्राह्मण-पुत्री मिस गाँगुली ने दिल्ली के बैरिस्टर

आसफ़ग्रली का पाणिग्रहण किया था, उस समय आप कहाँ सोए थे ? उस समय आपकी रगे-हमैयत जोश में क्यों न आई ? क्या ब्राह्मण-कन्या के किसी दूसरी जाति के हिंदू के साथ विवाह करने से ही आपके रक्त की पवित्रता नष्ट होती है ? जब मालाबारी ब्राह्मण तीन-तीन, चार-चार नायर लड़कियों से विवाह करता है, तब आप को नायरों का अपमान क्यों नहीं खटकता ?

आक्षेप—प्राचीन युगों के उदाहरण देना ठीक नहीं । वायसराय की कौंसिल के क़ानूनी मेंबर, माननीय सर जार्ज लौंडस को मालूम रहना चाहिए कि जो प्राचीन प्रथाएँ अपनी स्वाभाविक मृत्यु से मर चुकी हैं, उनका पालन किसी भी देश में अगली पीढ़ियों पर आवश्यक नहीं हो सकता । जब तक उनकी केवल उपयोगिता ही नहीं, वरन् वर्तमान प्रयोजनों के लिये उनकी विशेष आवश्यकता भी सिद्ध न की जाय, कोई भी व्यक्ति उनको पुनर्जीवित करने का विचार मन में नहीं ला सकता । समाज के बंधनों को तोड़ डालने की इच्छा रखनेवाले उच्छृंखल लोगों को प्राचीन धर्म-ग्रंथों में से सब प्रकार के उदाहरण मिल सकते हैं । देखिए, हिंदुओं में पहले आठ प्रकार के विवाह थे । वे पुराने समयों के विवाह की थोड़ी-बहुत ढीली और अनिश्चित अवस्थाओं के द्योतक हैं । इसलिये पिछले हिंदू-स्मृतिकारों ने कलियुग के लिये उनका निषेध कर दिया है । अब केवल ब्राह्म-विवाह की ही आज्ञा है, और वही प्रचलित है ।

उत्तर—बात असल में यह है कि भिन्न-भिन्न रीति-रिवाज मनुष्य-समाज के सुख-शांति के लिये बनाए जाते हैं न कि जैसा कि सनातनी लोग समझे बैठे हैं, समाज उनके लिये । आवश्यकता के अनुसार उनमें किसी भी समय परिवर्तन किया जा सकता है । प्राचीन आर्य या हिंदू लोग समर्थ थे । वे आजकल के सत्ताहीन

हिंदुओं की तरह निर्जीव न थे। वे अपने सुभीते के लिये समय-समय पर क़ानून—स्मृतियों—में रद्दोबदल करते रहे थे। यदि वे भी आज के हिंदुओं की तरह जाति-पाँति की काल-कोठरी के क़ैदी होते, तो वे शक, हूण और यूची आदि दूसरी जातियों को, जो समय-समय पर भारत में आती रहीं, हज़म करके अपना हाड़-मांस न बना सकते। आज उन जातियों की अलग सत्ता का पता तक नहीं चलता। वे सब हिंदू-समाज में घुल-मिल गईं। इधर मिस्टर अमृतलाल राय जर्नलिस्ट भिन्न-भिन्न जाति के हिंदुओं का भी आपस में रोटी-बेटी का व्यवहार सहन नहीं कर सकते। यदि पौराणिक काल के स्मृतिकारों ने अपने से पहले महर्षियों के रीति-रिवाजों और क़ानूनों को रद्द कर दिया, तो क्या हमें अधिकार नहीं कि हम इन स्मृतिकारों को उठाकर एक ओर रख दें? जहाँ आपका स्वार्थ सिद्ध होता है, वहाँ तो आप शास्त्र की दुहाई देने लगते हैं, पर जहाँ आपके स्वार्थ को आँच आती है, वहाँ आप शास्त्र को मदारी का थैला बताकर गत-प्रमाण या ज़ायदुल मेआद ठहरा देते हैं, और कहते हैं, उसमें से तो जैसे चाहो, वैसे प्रमाण मिल जाते हैं। अंतरजातीय विवाह की यदि आवश्यकता और उपयोगिता न होती, तो जो विद्वान् इस बिल को पास कराना चाहते हैं, वे व्यर्थ अपनी शक्ति और समय का नाश क्यों करते? यदि आप द्वापर में होते तो रुक्मिणी और सुभद्रा के साथ राक्षस-विवाह न करने के लिये कृष्ण और अर्जुन को भी आपके पड़ोस में 'शराब की दूकान' खोलने के कारण दंडनीय ठहराते। पर उस काल के लोगों ने इस 'शराब की दूकान' पर कुछ आपत्ति नहीं की, और इनकी संतान से दायभाग का अधिकार नहीं छीना।

आक्षेप—समाज-संबंधी क़ानूनों का प्रधान आधार दो बातें होनी चाहिए—(१) लिखित ज़ाबता क़ानून या स्मृतियाँ, (२)

रिवाज का अलिखित क़ायदा जिसे संस्कृत में सदाचार कहते हैं। क्योंकि याज्ञवल्क्य कहता है—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः;
सम्यक संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्।

अर्थात्-धर्म (क़ानून) के मूल ये हैं—वेद, स्मृति, अच्छे मनुष्यों के काम (सदाचार), अपने अंतःकरण का तर्क-संगत आदेश, शुभ संकल्प से उत्पन्न हुई कामना अर्थात् लोक-हित की इच्छा।

यह एक समाज-शास्त्र-संबंधी प्रसिद्ध नियम है कि रीति-रिवाज समय की प्रगति के साथ बदलते हैं। ऊपर की सब बातें प्रस्तावित बिल के उद्देश्य तथा भाव के विरुद्ध हैं, क्योंकि हिंदुओं की भारी बहुसंख्या इसके पक्ष में नहीं।

उत्तर—आपने इस बात का कोई प्रमाण नहीं दिया कि यह बिल याज्ञवल्क्य की उपर्युक्त कसौटी के विरुद्ध है। केवल इतना कह देने से ही आपकी बात मान्य नहीं हो सकती। हम तो समझते हैं, यह बिलकुल उसके अनुसार है। फिर यह भी ठीक नहीं कि बहुत-से हिंदू इसके पक्ष में नहीं। दूसरे, बीमार कड़वी दवा पीने से सदा डरा करता है, चाहे वह जानता भी हो कि इससे मुझे आराम हो जायगा।

आक्षेप—सर रवींद्रनाथ जाति-पाँति के विरुद्ध हैं। उनके बाप-दादा भी इसके विरुद्ध ही थे। पर क्या उनमें से किसी ने भी अपनी किसी संतान का विवाह ब्राह्मणों से बाहर किया? यदि वे हृदय से जाति-पाँति के विरोधी होते, तो ज़रूर कर्म में भी इसे तोड़ दिखाते। इसी प्रकार अच्छे-अच्छे आर्यसमाजी और सिक्ख भी अपनी बिरादरी में ही विवाह करते हैं।

उत्तर—यह ठीक है, यदि श्रीरवींद्रनाथजी ठाकुर के बाप-दादा और सिक्ख-गुरु आप भी जाति-पाँति तोड़कर अपना और अपनी

संतान का विवाह करते, तो अंतरजातीय विवाहों का ख़ूब प्रचार हो गया होता। पर इसका यह मतलब कदापि नहीं कि जो काम पिता, किसी रुकावट या कठिनाई के कारण, नहीं कर सका उसे पुत्र भी न करे। यदि आपके विरोध से अब श्रीरवींद्रनाथ भी जाति-पाँति को उड़ाने में क्रियात्मक पग न उठा सकें, तो कल आप उनकी संतान को भी कहेंगे कि तुम्हारे पिता ने जाति-पाँति को न मानते हुए भी जाति-पाँति नहीं तोड़ी, तो तुम अब क्यों तोड़ते हो? क्या तुम उससे अधिक योग्य हो?

आक्षेप—जाति-पाँति-तोड़क विवाहों से जो संतान उत्पन्न होगी, उसकी नई मूर्ख जातियों में श्रेष्ठता और उच्चता के लिये द्वेष और लड़ाई होगी, क्योंकि इस समय ऐसा कोई नियम नहीं, जिससे इस जाति-पाँति-तोड़क विवाहों की संतानों की जातियों का निश्चय किया जा सके, यद्यपि ये सब अंत्यज समझी जायँगी। मिश्र-विवाहों की संतान के उनके माता-पिता की जाति से नीचा गिना जाने के कारण ही इतनी उप-जातियाँ पैदा हो गई हैं।

उत्तर—जाति-पाँति-तोड़क लोग कोई नई जातियाँ नहीं पैदा करने जा रहे। वे तो जाति-पाँति का समूल नाश चाहते हैं। जब कोई जाति ही नहीं होगी, तो उसके ऊँची या नीची होने का प्रश्न ही कैसे पैदा होगा? मनुष्य जो काम करेगा, वही कहलायगा। जब उससे पूछा जायगा कि तुम कौन हो, तो वह कहेगा, मैं हिंदू, आर्य-समाजी, सिक्ख, जैन या ब्राह्म; डॉक्टर, लोहार, वकील, व्यापारी या मज़दूर हूँ। बस जाति की ज़रूरत ही क्या है? किसी चीनी या फ़्रांसीसी से पूछिए कि तुम ब्राह्मण हो या खत्री, तो वह आपको जो उत्तर देगा, वही जाति-पाँति के बंधन से मुक्त हिंदू दे सकेगा।

आक्षेप—यदि किसी श्रेणी के लोगों को अंतरजातीय विवाह

की ज़रूरत है, तो उन लोगों को हिंदू न गिना जाय और इस बिल का नाम हिंदू-अंतरजातीय विवाह-बिल न रक्खा जाय । संदिग्ध जातियों और चरित्रों के लोगों की ख़ातिर, जिनके प्रतिनिधि होकर मिस्टर पटेल बोल रहे हैं, संभ्रांत और सुनिश्चित जातियों के लोगों का अपमान किया जाय, क्योंकि यह बिल प्रतिष्ठित और संभ्रांत लोगों के लिये नहीं, बल्कि निर्लज्ज और समाज के तलछट के लिये है ।

उत्तर—आप जाति-पाँति-तोड़कों को अपशब्द कहने से अपना संभ्रांत और प्रतिष्ठित होना कैसे सिद्ध करते हैं । क्या अपनी जाति की स्त्री को छोड़कर दूसरी जाति की स्त्री से विवाह कर लेने-मात्र से ही मनुष्य चरित्र-हीन हो जाता है ? पर हम पूछते हैं, आपको हिंदू-धर्म का ठेकेदार किसने बनाया है, जो आप दूसरों को बाहर निकाल देने का आदेश कर रहे हैं ? भला यदि कोई आपसे कहे कि आप ब्राह्मण नहीं, कायस्थ हैं, तो सिवा इसके कि आप स्वयं अपने को ब्राह्मण-ब्राह्मण कहते जायँ, आपके पास ब्राह्मण होने का क्या प्रमाण है ? क्या एक कायस्थ जर्नलिस्ट में और आपमें कोई ऐसा फ़र्क़ है, जिसे आपके कहे बिना लोग आप ही देख सकें । पहले भी इसी प्रकार निकाल निकालकर आपने सात करोड़ मुसलमान और सात करोड़ अछूत बना दिए हैं । यदि इस पर भी जी की जलन शांत नहीं हुई, तो बेशक जाति-पाँति-तोड़कों को हिंदू-धर्म से बाहर निकाल दीजिए । पर मुश्किल यह है कि अब शंकराचार्य का युग नहीं । कहीं आपको ही मुसलमान न बनना पड़े ।

आक्षेप—हिंदुओं में जितने योग्य पुरुष हुए हैं, वे सब जाति-पाँति के भीतर होनेवाले विवाहों की ही संतान हैं । जाति-पाँति-तोड़क विवाहों से योग्य और सदाचारी संतान नहीं उत्पन्न होती ।

उत्तर—जाति-पाँति के बंधनों में जकड़ा होने के कारण सभी

विवाह जाति के भीतर ही होते हैं। इसलिये अच्छे-से-अच्छे और गंदे-से-गंदे दोनो तरह के मनुष्य इन्हीं विवाहों से पैदा हुए हैं। पर पाश्चात्य देशों में, जहाँ जन्म-मूलक जाति-पाँति का नाम-निशान तक नहीं, ऐसे-ऐसे विज्ञानाचार्य, ऐसे-ऐसे योद्धा, ऐसे-ऐसे विचारक और ऐसे-ऐसे राजनीतिज्ञ उत्पन्न हुए और होते हैं कि उनके सामने आपकी बतलाई नामावली सूर्य के सामने दीपक जान पड़ती है। जब यहाँ अंतरजातीय विवाहों का प्रचार था, तब यहाँ भी परशुराम, कर्ण, विदुर, व्यास, वसिष्ठ और पराशर पैदा होते थे। क्या ये पूज्य महाशय आपके गिनाए सेन, तिलक, बनर्जी, विद्यासागर, राय, घोष, और मालवीय से कम योग्य थे? क्या जिन ब्राह्मण विद्वानों ने कौंसिल में इस बिल का समर्थन किया, वे इन जैसे-ही संभ्रांत नहीं?

आक्षेप—जाति-पाँति ने व्यापारी दुनिया में मुक़ाबले की बुराई को रोका है, और थोड़े से हाथों में ही धन को इकट्ठा नहीं होने दिया, जो कि योरपीय पूँजीवाद (Capitalism) में भारी दोष है।

उत्तर—यह बात सत्य नहीं। जितना धन इस समय द्विज-नामधारियों के पास है, उसका लाखवाँ भाग भी अछूतों और शूद्रों के पास नहीं। यदि जाति-पाँति को माननेवाले ब्राह्मण, डॉक्टर, वैद्य, ज़मींदार, साहूकार, इंजीनियर, मजिस्ट्रेट, ठेकेदार और सरकारी नौकर होना छोड़ दें और अपना सारा धन वैश्यों को दे दें; यदि क्षत्रिय-नामधारी बैंक, दूकान, वकालत, अध्यापकी, डॉक्टरी द्वारा धन कमाना छोड़ दें; यदि वैश्य-नामधारी जज, मजिस्ट्रेट, वकील, अध्यापक बनना छोड़ दें, तब आप यह बात कह सकते हैं। आप तो यह चाहते हैं कि शूद्र और अछूत कम लाभदायक काम करते हुए ग़रीब बने रहें, और आप जिस काम में लाभ देखें, वही करने लगें। यदि इसी मुक़ाबले की दौड़-धूप से समाज को बचाना है, तो अँगरेज़ों से

अधिक वेतन के उच्च पद क्यों माँगते हो ? आप उनके चपरासी और क्लर्क बनें, वे अफ़सर बने रहेंगे । इससे आपको संतोष रहेगा । जो बात आप अपने लिये पसंद नहीं करते, उसे मानने के लिये दूसरों को क्यों विवश करते हो ?

आक्षेप—इस बिल का निर्णय साधारण लोगों के बहुमत से नहीं, वरन् शास्त्र को जाननेवाले थोड़े-से विद्वान् पंडितों की सम्मति से करना चाहिए ।

उत्तर—आप अभी तो कहते थे कि बहुत थोड़े हिंदू इसके पक्ष में हैं । फिर डर क्यों गए ?

बात असल में यह है कि नानक, गोविंदसिंह, राममोहन राय और दयानंद जिन भी महापुरुषों ने पहले जाति-पाँति को तोड़ने का उद्योग किया, उन सबका जन्म उच्च जातियों में ही हुआ था । वे जाति-पाँति से पीड़ित शूद्रों और अछूतों के दुःखों का भली भाँति अनुभव नहीं कर सकते थे । दूसरे, हिंदू-प्रभुता के युग में दलित भाइयों को विद्याध्ययन, धनोपार्जन, उत्तम खान-पान और स्वच्छ रहन-सहन की आज्ञा न थी । गौतम-धर्मसूत्र और मनुस्मृति आदि ग्रंथ उनके लिये इन उत्तम बातों का निषेध करते थे । उस समय वे निर्बल, निर्धन और ज्ञान-चक्षु-विहीन थे । वे अपने अत्याचारी द्विजों के विरुद्ध सिर न उठा सकते थे । इसीलिये जाति-पाँति न टूट सकी । परंतु अब समय बदल चुका है, हिंदू-प्रभुता नष्ट हो चुकी है । इस्लाम और ईसाई धर्म ने भारत में अपने अड्डे जमा लिए हैं । वे हिंदुओं के सामाजिक अत्याचारों से पीड़ित शूद्रों और अछूतों को लेने के लिये हर समय बाँहें फैलाए रहते हैं । अब अँगरेज़ी राज्य के प्रताप से मद्रास के अब्राह्मण—शूद्र और अछूत—भी लिख-पढ़कर उच्च पदाधिकारी बन गए हैं । उनके पास धन और संपत्ति भी है । शिक्षा ने उनके ज्ञान-चक्षु खोल दिए हैं । वे अब जन्माभिमानी ब्राह्मणों की

जन्म-मूलक श्रेष्ठता स्वीकार करने को बिलकुल तैयार नहीं। उन्होंने अब सारे अनिष्ट की मूल जाति-पाँति को मिटा देने का दृढ़ निश्चय कर लिया है। उनमें आत्म-सम्मान-आंदोलन बड़े ज़ोर से चल रहा है। अब कोई भी शक्ति जाति-पाँति को सुरक्षित न रख सकेगी। उन करोड़ों दुखित शूद्रों और अछूतों की फूँक से जाति-पाँति इस तरह उड़ जायगी जैसे आँधी के सामने पीपल का सूखा हुआ पत्ता। यही कारण है जो श्री० अमृतलाल राय-जैसे सनातनधर्मी जाति-पाँति की मृत्यु पर इतना विलाप करने लगे हैं। अब जाति-पाँति-तोड़क विवाहों की संतान को अपनी पैतृक संपत्ति से वंचित होने का भी डर नहीं। क्योंकि सिविल मैरिज ऐक्ट या डॉक्टर गौड़ के मैरिज ऐक्ट के अनुसार जाति-पाँति तोड़क विवाह रजिस्ट्री हो सकता है और उसकी संतान क़ानून की दृष्टि में अपने माता-पिता की संपत्ति की जायज़ वारिस समझी जाती है। जब तक अंतरजातीय विवाहों का प्रचार नहीं होता और जब तक हिंदू जन्म-मूलक जाति-पाँति की ज़ंजीरों में बँधे हुए हैं, तब तक अछूतोद्धार, शुद्धि संगठन, वरन् स्व-राज्य भी सर्वथा असंभव है। इसलिये प्रत्येक देश-हितैषी का कर्तव्य है कि जाति-पाँति का समूल नाश करने में तन, मन और धन से मंडल की सहायता करे, तभी हिंदू-समाज और भारत-जननी का कल्याण होगा।

जाति-पाँति का गोरखधंधा

आजकल वर्ण-व्यवस्था तो आर्यों के लिये मरण-व्यवस्था बन गई है. देखें इस डाकिन से आर्यों का पीछा कब छूटता है।

"महर्षि दयानन्द"

लेखक—

रामलाल वकील, कोटा.

प्रकाशक—

परमानन्द बी. ए.

मन्त्री—जाति-पाँति तोड़कमण्डल,

अजमेर.

आर्य्य-प्रतिनिधि सभा राजस्थान द्वारा

स्वीकृत व मुद्रापित.

मुद्रक—

वैदिक-यन्त्रालय,

अजमेर.

पांति तोड़क मंडल

स्वामी श्रद्धानन्दजी

ॐ

प्रकाशक की भूमिका

आज आर्य्य-जाति की बड़ी हीन दशा है, पेशावर से बंगाल तक और हिमालय से कन्याकुमारी तक इस देश के असली निवासी (आर्य्य लोग) महा दुखी हैं, आए दिन हिन्दुओं के लुटने, पिटने, उनकी बहू बेटियों के तिरस्कृत होने तथा मन्दिरों और मूर्त्तियों के टूटने के समाचार आते रहते हैं, अभी सब से ताज़ा समाचार यह है कि पेशावर से परे के मुसलमानों ने हिन्दुओं और सिक्खों को अपने यहां से निकाल दिया है, इस समय तक निराकार ईश्वर के उपासक आर्य्यसमाजी अपनी यथा-तथा स्थिति बनाए हुए थे, परन्तु यह बात कब तक चल सकती थी ? आर्य्यसमाज ही हिन्दू जाति का रक्षक समाज है, यही एक जीवित जागृत संस्था है, विरोधियों की देर से इस पर दृष्टि थी, परन्तु वे समय की ताक में थे। देश की शासनसत्ता के मौन से लाभ उठा कर पहले श्री स्वामी श्रद्धानन्दजी की हत्या कीगई, फिर दूसरे आर्य्य-समाजियों पर हाथ डाला गया, आज न कोई हिन्दू सुरक्षित हैं न आर्य्यसमाजी, सभी को जान और माल के लाले पड़े हुए हैं,

ऐसे अवसर पर हमारा क्या कर्त्तव्य है यह बड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न है ।

एक और बात भी है, इस समय आर्य्यसमाज और आर्य्य-जाति का यदि कोई मुख्य दोष बताया जाता है तो वह शुद्धि आन्दोलन तथा दलितोद्धार के कार्य्य का चलाना है, यह समय-धर्म्म है, परन्तु विधर्म्मियों की इन्हीं दो बातों से जड़ करती है, इसीलिये वह तिलमिला रहे हैं, इस समय की परिस्थिति को किसी भी दृष्टि से देखा जाय आर्य्य-जाति के संगठन की भारी आवश्यकता प्रतीत होती है, विधर्म्मियों में से जो व्यक्ति अपने अनुकूल हो सकते हैं उन्हें भी अपनाने की आवश्यकता है और अपने तो छोटे मोटे जो भी कोई हों उन्हें गले लगाने में ही हमारा कल्याण है । संगठन, शुद्धि और दलितोद्धार इस समय हमारे जातीय जीवन के प्राण-स्वरूप हैं ।

परन्तु इन तीनों ही बातों में एक भारी विघ्न है और वह है वर्तमान १८००० जातों पांतों का बन्धन, इतने भागों में बँटी हुई हमारी जाति विरोधियों के सामने कुछ कर धर नहीं सकती, पंजाबकेसरी श्री लाजपतरायजी ने पिछले दिनों में सक्खर में वक्तृता देते हुए कहा था कि हिन्दुओं के पास अपने प्रतिपक्षियों की अपेक्षा न धन की कमी है न शारीरिक बल की, मस्तिष्क-शक्ति में तो वे संसार की किसी जाति से कम नहीं हैं, इतना होने पर भी

फिर वही प्रश्न उठता है कि हमारी यह हीन दशा क्यों है ? हमने अभी संकेत किया है कि वर्तमान जात-पाँत ही हमारे संगठन में भारी रुकावट है, पिछले कौंसिलों के चुनाव के अवसर पर देश के नेताओं के सामने यह समस्या आई थी और कइयों ने बड़े दुःख से अनुभव किया था कि देशसेवा के मार्ग में भी यह जात-पाँत भारी पत्थर है। ऐसे लोगों में श्रीयुत जयकर, सावरकर, गौड़, मुंजे, टैगोर, लाजपतराय, वारदाराजलू, नायडू आदि की गिनती है। अछूतपन तो इस जात पाँत का बच्चा ही है, हम तो यहां तक कहते हैं कि अनाथों और विधवाओं का प्रश्न तथा संगठन, शुद्धि और दलितोद्धार के प्रयोजन हल हो नहीं सकते जब तक इस झूठी जात पांत को जड़ से नहीं मिटाया जायगा। बाल-विवाह, असमान-विवाह और विधुर-कुमारी विवाह सब इन्हीं जाति पांतियों के अत्याचार हैं।

देश, जाति और धर्म्म की ऐसी विकट स्थिति को देखकर कई सहृदय सज्जनों से रहा नहीं जाता, ऐसे ही कोमल-हृदय महानुभावों में ग्रन्थकार की गिनती है, इस पुस्तक के लेखक हैं कोटा के श्रीयुत रामलालजी वकील, आप साहित्य और संगीत दोनों के रसिक हैं, कोटा आर्य्यसमाज के प्रधान तक रह चुके हैं परन्तु आप के स्वभाव में बहुत सरलता है, आप चुपचाप सेवाभाव से काम करनें वाले व्यक्ति हैं, आप ने यह पुस्तक दैवी प्रेरणा से लिख रक्खा था, अकस्मात् कोटा में मेरा जाना

हुआ और आपकी लिखी पुस्तक सुनने का सुअवसर प्राप्त हुआ, मुझे यह पुस्तक इतनी उपयोगी और सामयिक जान पड़ी कि मैंने आप से इसके मुद्रित करने की आज्ञा मांगी जो आप नें सहर्ष दे दी, पुस्तक छोटी सी है परन्तु इसमें युक्तियों और प्रमाणों का पर्याप्त संग्रह किया गया है इस पुस्तक के प्रूफ संशोधन में मेरे भाई पं० सन्तरामजी बी० ए० लाहौर निवासी में भारी परिश्रम उठाया है। तदर्थ उनको धन्यवाद है, आशा है कि जनता इस पुस्तक का उचित स्वागत करेगी ॥

परमानन्द बी० ए०,

मन्त्री—

ज़ात-पांत तोड़कमण्डल, अजमेर.

ग्रन्थकार की भूमिका

प्रातः स्मरणीय परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री स्वामी दयानंद सरस्वतीजी महाराज कृत तथा आर्षग्रंथों के स्वाध्याय से मेरे हृदय पर इस विचार ने पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया है कि भारतवर्ष की अधोगति का मुख्य तथा प्रबल कारण एकमात्र जातिभेद है । अतः प्रत्येक देशभक्त का यह परम कर्त्तव्य है कि वह यथाशक्ति इस कुप्रथा के नाश के लिये प्रयत्न करे, इसी विचार से प्रेरित होकर मैंने यह लघु पुस्तक इस विषय में जनता का विचार-परिवर्तन करने के अभिप्राय से लिखी है । इसमें आलंकारिक भाषा का प्रयोग न करते हुये सीधी सादी भाषा लिखने का प्रयत्न किया है । मैं अपने उद्देश्य में कहांतक सफल हुआ हूं, इसका विचार विज्ञपाठक स्वयं करेंगे ।

वैशाख शुक्ल ३
संवत् १९८४.

विनीत—
रामलाल वकील,
हाईकोर्ट कोटा (राजपूताना)

॥ ओ३म् ॥

जात-पांत का गोरखधंधा

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥ (यजु० अ० ३० । ३)

सृष्टि की उत्पत्ति

सब से प्रथम जो प्रश्न मनुष्य के हृदय में उठता है वह यह है कि यह सृष्टि, जो उसे दृष्टिगोचर हो रही है, कैसे उत्पन्न हुई । वेदादि सच्छास्त्रों के अध्ययन से इस विषय में जो निष्कर्ष निकाला गया है वह यह है कि अनन्तकाल से जिस प्रकार रात के पश्चात् दिन और दिन के पश्चात् रात्रि का चक्र चलता है इसी प्रकार प्रलय के बाद सृष्टि और सृष्टि के बाद प्रलय होता रहता है । प्रलय की अवधि समाप्त होने पर जब सृष्टि का आरंभ होता है और पृथिवी बन चुकती है तो प्रथम ओषधियां अर्थात् वृक्ष, लता आदि उत्पन्न होती हैं इसके पश्चात् जलचर मछली, मगर इत्यादि और स्थलचर गाय, भैंस घोड़ा, सिंह आदि और नभचर तोता, मैना, चील, कौवा आदि पक्षी पैदा होते हैं । सब से पीछे मनुष्य जाति उत्पन्न होती है ।

यह उचित भी है क्योंकि जब जीवन-निर्वाह की समग्र सामग्री उपस्थित हो तब ही मनुष्य जीवित रह सकता है। अतः उस परम दयालु परमात्मा ने जीवनोपयोगी सब सामग्री बना कर मनुष्य को जन्म दिया।

बहुधा लोग पूछते हैं कि मनुष्य जाति किस स्थान पर उत्पन्न हुई। इस प्रश्न का उत्तर श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती महाराज ने अपने सत्यार्थप्रकाश के अष्टम समुल्लास में विस्तारपूर्वक दिया है और बतलाया है कि हिमालय के उत्तर में जो ऊंचा स्थान है जिसे आजकल "तिब्बत" कहते हैं वहीं मनुष्य जाति पैदा हुई और यह भी बताया है कि हज़ारों स्त्री पुरुषों ने अपने पूर्व कर्मों के अनुसार युवा अवस्था में जन्म लिया, क्योंकि यदि बाल्यावस्था में पैदा होते तो उनको कौन पालता और यदि वृद्धावस्था में वह संसार में भेजे जाते तो उनकी सेवा कौन करता ? इसलिये संसार में जो इस समय एक जनसमूह नजर आ रहा है यह किसी एक स्त्री पुरुष की सन्तान नहीं है प्रत्युत बहुतसे स्त्री पुरुषों की सन्तान है। अतः यह सिद्धान्त कि किसी एक स्त्री पुरुष से यह मनुष्य-समुदाय पैदा हुआ है, भ्रममूलक होने से माननीय नहीं हो सकता, क्योंकि न तो सत् शास्त्रों से इस की पुष्टि होती है और न विवेकपूर्ण बुद्धि ही इसको स्वीकार कर सकती है। ऐसा मानना केवल अंधश्रद्धा का ही परिणाम है।

जाति-भेद क्या है?

मनुष्य-जाति उत्पन्न होने के पश्चात् आज तक भी एक जाति है। यह पहिले भी एक जाति थी और अब भी एक है और आगे भी एक ही रहेगी। इस विषय में सैकड़ों वेदमंत्रों के प्रमाण विद्यमान हैं। जिज्ञासु पाठक श्रीमान् पं० शिवशंकरजी काव्यतीर्थ की बनाई हुई जातिनिर्णय नामक पुस्तक में देख लें। उस में वेद, सांख्य, वैशेषिक, न्याय, बृहदारण्यक उपनिषद्, महाभारत, भागवत आदि ग्रंथों के प्रमाणों से यह भलीभांति सिद्ध किया गया है कि मनुष्य-जाति एक है।

प्राचीन काल में मनुष्य-जाति के दो भेद माने जाते थे-एक आर्य्य और दूसरा दस्यु। आर्य्य शब्द का अर्थ वेद से लेकर आधुनिक काल के ग्रंथों तक में श्रेष्ठ, स्वामी, गुरु, सुहृद्, पूज्य, यज्ञानुष्ठानकर्ता, धर्मात्मा, शिष्ट, विद्वान्, आस्तिक, सभ्य, शूरवीर आदि बताया गया है और दस्यु शब्द का अर्थ-चोर, डाकू, असभ्य, छली, कपटी, दुराचारी, नास्तिक, अनार्य आदि बताया गया है। बहुत थोड़े में यदि कहना चाहें तो इस प्रकार कह सकते हैं कि मनुष्य-जाति में केवल दो ही भेद पाये जाते हैं, एक अच्छे और दूसरे बुरे।

यद्यपि इच्छा नहीं थी कि मनुष्य-जाति के एक होने के विषय में कोई शास्त्रीय प्रमाण पेश किया जावे, क्योंकि वर्तमान

समय के भारतवासियों के हृदय में वेदशास्त्रों के प्रति कोई मान और श्रद्धा का भाव विद्यमान नहीं है। वे केवल रिवाजों अर्थात् रूढ़ियों के दास हो चुके हैं। वह शास्त्रों का केवल इतना ही मान करते हैं कि कथा सुनली और समाप्ति पर इस ग्रंथ की पूजा कर के सवारी निकालदी। उनको इससे कुछ मतलब नहीं कि उस में जो कुछ लिखा है उसको शिरोधार्य कर के तदनुसार आचरण करना चाहिये। यह इसीका परिणाम है कि हिन्दुओं का धर्म्म केवल पुस्तकों में ही है आचरण में नहीं। वे अपना सारा ज़ोर रीत रिवाजों की ग़ुलामी क़ायम रखने ही में लगाते हैं, शास्त्रीय आज्ञाओं के प्रति ध्यान ही नहीं तथापि थोड़े से शास्त्रीय प्रमाण नीचे दिये जाते हैं। यदि शास्त्रों पर सच्ची श्रद्धा और विश्वास हो तो यही बहुत हैं। और यदि श्रद्धा न हो तो लाखों प्रमाण बेकार हैं।

सब से प्रथम मैं श्रीमद्भागवत का प्रमाण देता हूं जिसको आज कल पांचवें वेद की उपाधि दी जाति है जिस की घर घर कथा बंचाई जाती है, पूजा आरती की जाती है और सवारी निकाली जाती है।

> एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्व वाङ्मयः।
> देवो नारायणो नान्यः एकोऽग्निर्वर्ण एव च॥

(श्रीमद्भागवतस्कंध ६, श्लो० १४)

अर्थः—पहिले पहिले सब वाङ्मय को व्यापने वाला प्रणव (ओंकार) एक ही अद्वितीय नारायण देवता एक अग्नि और एक ही वर्ण था।

भागवत ने इस श्लोक में प्राचीन काल की एकता का कैसा सुन्दर वर्णन किया है, किसी तरह की लगी लिपटी नहीं रक्खी, साफ साफ बताया है कि—

(१) प्राचीन काल में भिन्न भिन्न मत नहीं थे केवल एक वेद-धर्म का प्रचार था। इसलिये आजकल की तरह गठरियों पुस्तकें न थीं। केवल एक वेदवाणी थी जो सब सत्यविद्याओं का भंडार है।

(२) इस समय भिन्न २ गुरु भिन्न २ मंत्रों का उपदेश करते हैं। प्राचीन काल में केवल प्रणव अर्थात् ओंकार ही सब का जप था।

(३) उन दिनों उपासना के लिये भिन्न भिन्न नाम के देवता न थे, सर्वव्यापी एक नारायण की ही उपासना की जाती थी।

(४) उस समय एक ही अग्नि में सब हवन करते थे।

(५) इसी प्रकार एक ही "वर्ण" था। आजकल के समान १८०० * जातियां न थीं जो जन्म से मानी जाती हैं।

* अब अठारह हज़ार जातियां हैं, देखो रिपोर्ट मर्दुमशुमारी (मनुष्य-गणना) सन् १९२१

पाठकों से मेरी प्रार्थना है कि वे श्रीमद्भागवत के बताये हुये प्राचीन धर्म अर्थात् सनातनधर्म के स्वरूप को जानें और सोचें कि वह कैसा आनंद का समय होगा जब कि सब के सब एक ईश्वर के उपासक, एक वेद के मानने वाले, एक ओंकार मंत्र को जपने वाले, एक ही अग्नि में साथ साथ हवन करने वाले, एक ही जाति के थे और आर्यों ने उस समय सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य स्थापित किया था तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है। आज भी जिस मनुष्य-समाज में भागवत के बताये हुये एक दो गुण भी मौजूद हों उनके अभ्युदय में संदेह नहीं हो सकता। विचार से देखें तो बहुत से उदाहरण हमारी आंखों के सामने मौजूद हैं।

आर्ष ग्रंथों में जाति का लक्षण

श्रीमद्भागवत का प्रमाण तो पाठकों ने देख लिया अब देखें कि दर्शनशास्त्रों का जाति के विषय में क्या निर्णय है, प्रथम गौतम ऋषि के बनाये हुये "न्यायदर्शन" को लीजिये, ऋषि 'जाति' का लक्षण करते हैं:—

"आकृतिर्जातिर्लिङ्गाख्या"

(न्यायदर्शन २। २। ७०)

अर्थः—जाति के पहचानने का जो हेतु है उसका नाम 'आकृति' है और जिससे जाति और जाति के अवयव पहचाने जाते हों ऐसे अवयव संयोग-विशेष को आकृति कहते हैं।

व्याख्या—किसी भी शरीर को देखो वह बहुतसे अवयवों का संयोग विशेष दिखाई देगा। मनुष्य-शरीर को ही देखिये, वह हाथ, पांव, मुख, नाक, कान, आंख आदि अवयवों से बना हुआ है। इसी तरह पशुओं में भी अवयव-संयोग है। वृक्षों के अवयव दूसरे प्रकार के हैं। उनके अवयव पेड़, शाखा, पत्ते, फूल और फल हैं। उनकी जाति इनही से पहचानी जाती है।

विज्ञ पाठक! अब अच्छी तरहसमझ गये होंगे कि जाति आकृति अर्थात् शारीरिक बनावट को देखते ही जानली जाती है। इसके लिये किसी से पूछने या तहक़ीकात करने की ज़रूरत नहीं होती।

महाभाष्यकार महर्षि पातञ्जलि भी महाभाष्य में जाति का लक्षण इस प्रकार करते हैं:—

"आकृतिग्रहणा जातिः"

अर्थः—व्यक्ति के देखने से ही जिसका प्रत्यक्ष होता है उसको जाति कहते हैं।

ऊपर बताये हुये नियम के अतिरिक्त दूसरा नियम जाति के जानने का न्यायदर्शन में यह बताया गया है कि—

"समानप्रसवात्मिका जातिः"

इसका यह तात्पर्य है कि जिन के नर और नारी के मेल से समानरूप से सन्तान पैदा होती है, वह एक जाति के हैं। एक

जाति के नर को दूसरी जाति की नारी से प्रेम करने की इच्छा तक उत्पन्न नहीं होती। पाठक विचार करें कि एक घोड़ी अर्ब देश की हो और घोड़ा काठियावाड़ का तो भी उन दोनों में प्रीति हो सकती है और बच्चा पैदा हो सकता है। क्योंकि संसार में जहां कहीं भी घोड़ा घोड़ी हैं, वे एक जाति के हैं। हां गुणों की पृथक्ता से नाम अलग अलग हो सकते हैं। मगर जाति अलग नहीं हो सकती। घोड़ा और बैल दोनों अलग अलग जाति के हैं। इसलिये बैल घोड़ी में गर्भ स्थापित नहीं कर सकता और घोड़ा गाय में। गर्भ की वात तो बहुत दूर की है वे ऐसी इच्छा तक नहीं कर सकते।

तीसरी बात यह भी है कि एक जाति दूसरी जाति की नक़ल नहीं कर सकती, जैसे गधा या बैल घोड़े के हिनहिनाने की नक़ल नहीं कर सकता। इसी तरह घोड़ा गधे की तरह रेंक नहीं सकता; बये का घोंसला दूसरी जाति का पक्षी नहीं बना सकता; मामूली मक्खियां शहद की मक्खियों की नकल करके शहद नहीं बना सकतीं।

जाति में चौथी प्रकार का गुण यह है कि जाति कभी बदलती नहीं—जन्म से मरण पर्य्यन्त एक ही बनी रहती है।

पाठक! अब वेदशास्त्र की बताई हुई इन चारों कसौटियों पर मनुष्य जाति को परखिए, आप को ज्ञात हो जावेगा कि मनुष्यमात्र एक जाति के हैं अथवा पशु पक्षियों की भांति मनुष्यों में भी अनेक जातियां हैं।

उक्त लक्षण मनुष्यों में चरितार्थ नहीं होता

(१) पहली कसौटी समान आकृति की (अर्थात् शारीरिक बनावट की) है। सो जाहिर है कि सारे संसार के मनुष्यों के शरीर के अवयव एक से हैं। सिर, आँख, कान, नाक, मुख, हाथ, पैर, उँगलियां आदि में भिन्न २ पशुओं की भाँति अन्तर नहीं है। घोड़ा और बैल दोनों चौपाये हैं मगर दोनों के पाँव में अन्तर है। घोड़े के पांव में सुम साबित होता है और बैल के पाँव में खुर फटे हुए होते हैं। इसी तरह सब अंगों का विचार कर लेना चाहिये। अतः पहली कसौटी से मनुष्यमात्र एक जाति के सिद्ध हो गये।

(२) दूसरी कसौटी नर और नारी के मेल से सन्तान का सिलसिले और दोनों में प्रेम की है। सो भारतीय नर नारियों का तो कहना ही क्या, बहुतसे महानुभाव-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य नामधारी-जो इंगलेण्ड, अमेरिका आदि देशों में विवाह करके अथवा बिना ब्याहे स्त्रियाँ लाये हैं उनका आपस में प्रेम है और बराबर सन्तान हो रही है। भारत में ही-मनुष्यों में जाति-निर्माण कार्य हुआ है और धीरे २ एक की जगह १८००० जातियाँ बन चुकी हैं। परन्तु ये सब मनुष्य की कल्पना है, नैसर्गिक नहीं। इसीलिये ईश्वरीय नियम के अनुसार इन सब की एक जाति होने के कारण सभी स्त्री पुरुषों में एक दूसरे के प्रति प्रेम की इच्छा पाई जाती है। एक जाति की लाखों स्त्रियों और

दूसरी जाति के पुरुषों में गुप्त प्रेम है और इस प्रेम को गुप्त रखने का पूरा प्रयत्न किया जाता है। परन्तु कहावत है कि इश्क (वह प्रेम जो कामवासना से हो) और मुश्क (कस्तूरी) छुपाने से नहीं छुपता है, प्रगट हो ही जाता है। इस प्रेम के उपहारस्वरूप सन्तानें भी होती रहती हैं और वे उसी जाति की समझी जाती हैं जो जाति उस स्त्री की हो (यदि उस स्त्री का पति जीवित हो)। गुप्त वीर्यदान में वीर्य की प्रधानता नहीं रहती, क्षेत्र की ही रहती है। मैं कुछ अनोखी बात नहीं लिख रहा हूँ। प्रत्येक ग्राम और नगर में ये घटनायें नित्यप्रति होती रहती हैं। अगर कहीं कुछ झगड़ा होता है तो केवल लड्डू खाने या कुछ नक़द ऐंठने के लिये ही होता है।

यह गुप्त व्याभिचाररूपी अनर्थ क्यों उत्पन्न हुआ? यह उसी सृष्टिनियमविरुद्ध धींगाधींगी का परिणाम है जिससे मनुष्य जाति को छोटी छोटी श्रेणियों में विभक्त कर दिया गया है और उनको मजबूर किया गया है कि वे उसी छोटे से समुदाय में अपना विवाह करें। इसी के फलस्वरूप बालविवाह, अनमेल विवाह, वृद्धविवाह आदि अनर्थ उत्पन्न हुये, जिनसे भारत इतना दुखी हो रहा है कि वर्णन करना कठिन है।

जिस समय जातियाँ बनाई गईं तो उन के साथ यह क़ानून भी बना दिया गया कि एक जाति दूसरी जाति में विवाह न करे। क्योंकि कल्पित जातिभेद बनाना और विवाह

का प्रतिबन्ध करना ईश्वरीय नियम के विरुद्ध था, अतः मनुष्यों ने उस की ज़्यादा परवाह नहीं रक्खी और हमेशा उसको तोड़ते रहे और तोड़ते हैं। आज लाखों स्त्रियाँ एक जाति की दूसरी जाति के मनुष्यों की पत्नी बनी हुई हैं। इसको प्रचलित भाषा में घर में बैठना कहते हैं। इनसे जो सन्तानें होती हैं उन में यह विचित्रता रक्खी गई है कि न वीर्य को प्रधानता है न क्षेत्र की। वह सन्तान दस्सा, लांड़ीवाल, खवासीना, गोला आदि नामों से पुकारी जाती है। अब पाठक विचारें कि यदि मनुष्यों में जातिभेद होता तो ऐसा संभव ही नहीं था। जातिभेद कल्पित है यथार्थ नहीं, यह बात इस दूसरी कसौटी से भी सिद्ध है।

(३) तीसरी कसौटी यह है कि एक जाति की नकल दूसरी जाति नहीं कर सकती। अब मनुष्य को इस कसौटी पर भी परखना चाहिये। एक अत्यन्त नीच जाति के लड़के को लेकर संस्कृत की शिक्षा दिलाइये। वह भी अच्छा पण्डित हो सकता है। गुरुकुलों में अछूत जातियों के बच्चे लेकर उन्हें विद्वान् बना डाला गया। महाराज बड़ौदा ने अछूतों की शिक्षा का प्रबन्ध कर के उन्हें इतना योग्य बना दिया है कि ब्राह्मणों में और उनमें तमीज़ करना मुश्किल है। एक अरब देश का निवासी संस्कृत पढ़कर पण्डित हो सकता है। अकबर के समय में फैज़ी ने संस्कृत पढ़कर गीता, भागवत और

उपनिषदों का फारसी में उल्था किया था। इसी प्रकार एक भारतीय भी अरबी पढ़कर मौलवी हो सकता है। पहिले बहुत से होगये जिन्होंने अरबी-फारसी में किताबें तक बनाई हैं। आज भी मौलवी कालीचरणजी तथा पं० रामचन्द्रजी देहलवी अरबी के फाजिल मौजूद हैं। अंग्रेज़ों और जर्मन जाति के लोगों को लीजिये तो उनमें मेक्समूलर और ग्रीफिथ जैसे विद्वान् हो गये हैं। उन्होंने वेदों का भी अंग्रेज़ी में भाष्य कर डाला है, जो वेदों के ठेकेदार बनने वालों से न हो सकता। इस कसौटी पर भी मनुष्य एक जाति है।

(४) चौथी कसौटी यह है कि जाति बदल नहीं सकती। सो मनुष्यों की कल्पित जाति रोज़ बदलती है। उसका पहला प्रमाण तो यही है कि एक की १८००० होगई हैं। मनुष्य-गणना की रिपोर्टों से विदित है कि भारत में जाति बनाने का काम जारी है। हर मनुष्य-गणना में जातियाँ बढ़ जाती हैं। एक उच्च जाति का पुरुष यदि ईसाई या मुसलमान होजावे तो उसी समय वह जाति मिट जाती है। परन्तु वह अपनी असली जाति, जो मनुष्यजाति है, नहीं बदल सकता। वह जब हिन्दू था तब भी मनुष्य था; मुसलमान होगया जब भी मनुष्य ही है। फिर ईसाई हो जायगा तब भी मनुष्य ही रहेगा। इस कसौटी पर भी मनुष्य की एक जाति ही सिद्ध होती है।

जात-पाँत के पक्ष में कुछ युक्तियां

यहां तक मैंने इस प्रश्न पर विचार किया है मनुष्यमात्र एक जाति है। यद्यपि उदारहृदय विद्वानों ने भारतवर्ष से इस जात-पाँत नाम की राक्षसी को ध्वंस करने का प्रयत्न आरंभ कर दिया है परन्तु कुछ स्वार्थी भारत की अवनति ही नहीं बल्कि सर्वनाश की ओर ध्यान न देकर भारतनाशक गौरव-भंजक इस प्रथा को जारी रखने का ज़ोर लगा रहे हैं। घर घर में इसकी चर्चा हो रही है तो भी यह इसलिये लीपापोती कर रहे हैं कि जितने दिन टले उतना ही उनके लिये अच्छा है। पाठक उनकी युक्तियां सुनें जो वे दे रहे हैं और फिर विचारें कि क्या यह धोखा देना नहीं है ?

(१) देखो वृक्ष एक जाति है और आम, जामून, बड़, पीपल आदि उनमें जातियां हैं। इसी प्रकार मनुष्य एक जाति तो है परन्तु उनमें भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, बनियां, कायस्थ, सुनार, चमार आदि जातियां हैं। जब पशुओं, पक्षियों में यहांतक कि वृक्षों में ईश्वर ने जातियाँ बनाईं तो मनुष्यों में क्यों न बनाता ? धन्य हो महाराज ! युक्ति तो अच्छी दी, कृपानिधान ! जाति का लक्षण समान आकृति है। इसलिये जहां कहीं भी यह लक्षण घटे वहाँ एक जाति माननी पड़ेगी। जामून, आम, बड़, पीपल जिस प्रकार पहचाने जाते हैं क्या कायस्थ, सुनार, नाई,

ब्राह्मण, बनियां, अग्रवाल, धोबी, माली, कोली, कुम्हार देख कर पहचाने जा सकते हैं? अगर पहचाने जा सकें तो बेशक वह अलग जाति के हो सकेंगे। परन्तु बात ऐसी नहीं है। सौ आदमियों को एकसी पोशाक पहना कर एक पंक्ति में खड़ा करो और इन पंडितजी से पूछो कि बताओ ये किस जाति के मनुष्य हैं? तो पंडितजी महाराज न बता सकेंगे और चुप होजावेंगे। फिर एक पंडित को, नहीं एक मूर्ख अनपढ़ को किसी बाग़ में लेजाइये और पूंछिये कि बताओ यह किस २ जाति के पेड़ हैं? तो वह देखते ही बता देगा कि यह आम है, यह जामून है, यह केला है, यह अमरूद है। इसी प्रकार पशुओं को देखकर कहेगा कि यह हाथी है, यह घोड़ा है, यह गाय है और पक्षियों को भी देख कर बता देगा कि यह तोता है, यह मैना है, यह कबूतर है और यह मोर है। जबतक मनुष्यों को देखते ही यह ज्ञान न होजावे कि यह ब्राह्मण है, यह कायस्थ है, यह सुनार है, मनुष्यों में अलग अलग ज़ातियां बताना घोर मूर्खता नहीं तो और क्या है?

पंडितजी महाराज ने अपनी युक्ति की पुष्टि में यह भी कहा है कि हां, मनुष्य भी पहचाना जाता है और प्रमाणस्वरूप सत्यकाम जाबालि की कथा को उद्धृत किया कि जब ऋषि के पास बालक सत्यकाम गया तो ऋषि ने ज़ान लिया कि यह ब्राह्मण है और उसका उपनयन संस्कार किया

और गायत्री का उपदेश दिया। धोका देने को तो यह कथा ठीक है परन्तु विचारशील पुरुषों के आगे चल नहीं सकती। प्रत्युत इसी कथा से पंडितजी के सारे परिश्रम पर पानी फिर जाता है और अच्छी तरह कलई खुल जाती है।

कथा इस प्रकार है—

"बालक सत्यकाम ऋषि के आश्रम पर गया और प्रार्थना की कि मेरा उपनयन संस्कार किया जाये। ऋषि ने पूछा तुम्हारा गोत्र क्या है? सत्यकाम ने कहा महाराज मुझे मालूम नहीं है, अपनी माता से जाकर पूछूंगा तब बता सकूँगा। ऋषि ने कहा अच्छा पूछकर आ। सत्यकाम अपनी माता के पास गया और पूछा कि माताजी मेरा गोत्र क्या है? जाबाली ने कहा मुझे नहीं मालूम। क्योंकि मेरा किसी के साथ विवाह नहीं हुवा। मैंने यौवन अवस्था (जवानी) में तुझे पाया है। सत्यकाम ने ऋषि के पास जाकर अपनी माता का बताया हुवा सब वृत्तान्त कह सुनाया। ऋषि ने सब हाल सुनकर कहा कि तूने सत्य को नहीं छुपाया इसलिये तू ब्राह्मण है, क्योंकि सत्य का आचरण करना ब्राह्मण का लक्षण है।

इस कथा से साफ विदित है कि ऋषि ने सत्यकाम से पूछा कि तेरा गोत्र क्या है। अगर वे पहचान सक्ते थे तो देखते ही कह देते कि तू ब्राह्मण है। परन्तु पहचान नहीं सके और माता से पुछवाया। जब सत्यकाम ने सत्य कह दिया तो इस गुण

को देख कर ऋषि ने व्यवस्था दे दी कि तू ब्राह्मण है। यहां यह भी बता देना ज़रूरी है कि ब्राह्मण कोई जाति नहीं है, वर्ण है। और वर्ण का संबंध गुण, कर्म, स्वभाव से है, जन्म से नहीं है। यदि जन्म से ब्राह्मण माने जाते तो बताओ क्या सत्यकाम ब्राह्मण माना जा सकता था? कदापि नहीं। आजकल यदि कोई स्त्री इन पंडितजी के पास अपना लड़का लेजावे और कहे कि पंडितजी मेरा विवाह तो किसी के साथ नहीं हुवा परन्तु यह बेटा जवानी में जारकर्म से पैदा हुवा है तो पंडितजी बतावें कि वह किस जाति में उसे रक्खेंगे? ब्राह्मणों में या किसी और जाति में? आजकल के नियम के अनुसार तो उस विचारे का कहीं भी ठिकाना नहीं।

वर्णभेद।

जन्म से जाति के पक्षपातियों से इस विषय की चर्चा करो तो वे कहते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार जातियां आदि काल से ही चली आती हैं और सब जातियां जो इस समय १८००० पाई जाती हैं, इन्हीं चारों जातियों के अन्तर्गत हैं। यह विचार सर्वथा भ्रममूलक है। वेद, शास्त्र, तर्क, विवेक बुद्धि और सृष्टिनियम के विरुद्ध है। जिस दिन से इस झूठी कल्पना को जन्म देकर स्वार्थसिन्धुओं ने इस का प्रचार किया उसी दिन से भारत के सर्वनाश का सूत्रपात हुवा है।

ऊपर लिखित भारत की अधोगति का चित्र जब आंखों के सामने आता है तो मन निराशा के समुद्र में डूब जाता है। परन्तु नितान्त निराश होजाना भी नास्तिकता का लक्षण है। प्रत्येक मनुष्य का धर्म है कि ईश्वर से नाउम्मेद कभी न हो। संसार परिवर्तनशील है। वह एक ही दशा में नहीं रह सकता। काले बादलों में भी बिजली की चमक उत्पन्न हो जाती है। ईश्वर की दया से हमारे अन्दर ही एक समुदाय उत्पन्न हो चुका है जो श्रीमद्भागवत के स्कंध ९ श्लोक १४ के अनुसार एक ईश्वर, एक वेद, एक ही ओंकार मंत्र और मनुष्यमात्र को एक जाति मानने लगा है। उसने अपना प्राचीन नाम जो आर्य था धारण कर लिया है। यह समुदाय भी अभी तक पूर्ण रूप से इन उच्च विचारों को आचरण में नहीं लासका है। परन्तु यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। हज़ारों वर्षों के बिगड़े हुये विचार का भी सुधर जाना शुभ लक्षण है। जब विचार उत्पन्न हो चुके हैं तो आचरण में भी आवेंगे। आर्यसमाज के प्रचंड प्रचार से हमारी भी निद्रा भंग होने लगी है और हमें भी अपनी अधोगति का ज्ञान होने लगा है। चारों तरफ़ उन्नति की पुकार मची हुई है; पुराने विवेकबुद्धिहीन विचारों की जगह नये विवेकपूर्ण विचार ले रहे हैं। अतः आशा है कि वह दिन दूर नहीं जब हम अपनी खोई हुई सम्पत्ति के अधिकारी होंगे। लेखक आशावादी है और ईश्वर की दया पर पूरा विश्वास रखता है। परन्तु ईश्वर उनकी ही सहायता करता है जो

पुरुषार्थ करते हैं। हम सब का कर्त्तव्य होना चाहिये कि इन पवित्र विचारों की सहायता करें।

महाभारत क्या कहती है ?

श्रीमद्भागवत का प्रमाण आरंभ में दिया जा चुका है। अब वर्णभेद के विषय में महाभारत की सम्मति सुनिए—

एकवर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठिर।
कर्मक्रियाविभेदेन चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम्॥

सर्वे वै योनिजा मर्त्याः सर्वे मूत्रपुरीषजाः।
ऐकेन्द्रियेन्द्रियार्थाश्च तस्माच्छीलगुणैर्द्विजः॥

शूद्रोपि शीलसम्पन्नो गुणवान् ब्राह्मणो भवेत्।
ब्राह्मणोपि क्रियाहीनः शूद्रात् प्रत्यवरो भवेत्॥

हे युधिष्ठिर! इस संसार में पहले एक ही वर्ण था। गुण और कर्म में भेद पड़ने से चार वर्ण–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र माने गये। क्या ब्राह्मण, क्या शूद्र सब मनुष्यों की उत्पत्ति मूत्र और पुरीष के स्थान योनि से ही होती है; सब ही मनुष्य मल-मूत्र त्यागते हैं, सब मनुष्यों की इन्द्रिय, वासनायें समान हैं अर्थात् सब खाते हैं, पीते हैं, देखते हैं, सुनते हैं, चलते हैं, मैथुन करते हैं इत्यादि (इसलिये जन्म से ऊंच नीच मानना

उचित नहीं)। शील की प्रधानता से ही द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) होते हैं यदि शूद्र शीलसम्पन्न और गुणवान् हो तो ब्राह्मण होता है। और ब्राह्मण भी यदि क्रियाहीन हो जाय, तो वह शूद्र से भी नीच हो जाता है। और देखिये—

भारद्वाज उवाच

कामः क्रोधो भयं लोभः शोकश्चिंता क्षुधा श्रमः ।
सर्वेषां नः प्रभवति कस्माद् वर्णो विभिद्यते ॥ १ ॥
स्वेद मूत्रं पुरीषाणि श्लेषमा पित्तं सशोणितम् ।
तनु क्षरति सर्वेषां कस्माद् वर्णो विभिद्यते ॥ २ ॥

भृगुरुवाच

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत् ।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतांगतम् ॥ ३ ॥
कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः ।
त्यक्तस्वधर्मा रक्तांगास्ते द्विजा क्षात्रतां गताः ॥ ४ ॥
गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीवनः ।
स्वधर्मे नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गताः ॥ ५ ॥
हिंसाऽनृतप्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीवनः ।
कृष्णः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः ॥ ६ ॥

इत्येतैः कर्मभिर्व्यस्ता द्विजा वर्णान्तरं गताः।
धर्मो यज्ञ क्रियां तेषां नित्यं न प्रतिषिध्यते ॥ ७ ॥
इत्येते चतुरो वर्णा येषां ब्राह्मी सरस्वती।
विहिता ब्रह्मणा पूर्वं लोभात् त्वज्ञानतां गताः ॥ ८ ॥

(महाभारत शांति० १८८)

ऋषि भारद्वाज ने भृगु मुनि से पूछा कि हे भृगु मुनि! काम, क्रोध, लोभ, भय, शोक, चिंता, क्षुधा और श्रम आदि विकार हम सब लोगों में एक से हैं। फिर वर्णभेद क्यों माना जाता है? पसीना, मूत्र, पुरीष, कफ, पित्त, रक्त सब मनुष्यों के शरीर में रहता है और बाहर निकलता है तो अलग अलग वर्ण क्यों माना जाता है?

इस पर भृगुजी बोले कि पहले एक ब्राह्मण वर्ण ही था। चारों वर्णों में कुछ विशेष भेद नहीं है। ब्रह्म की उत्पन्न की हुई सृष्टि के लोग पहले ब्राह्मण थे। कर्मों से ही ब्राह्मण से क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्ण बने। जो ब्राह्मण अपना धर्म छोड़ कर काम और भोग में आसक्त हुये, जो स्वभाव से क्रोधी, साहसी और उग्र थे वे क्षत्रिय गिने गये। जो ब्राह्मण गौ पालने लगे और खेती करने लगे वे वैश्य कहलाये। जो ब्राह्मण भ्रष्ट आचार से रहने लगे, जो लोभ में पड़ कर हिंसा करने लगे, सब प्रकार के कर्म करने लगे और सत्य को त्याग दिया वे शूद्र समझे गये।

इस प्रकार भिन्न गुण-कर्मों से ये चार वर्ण बने। इसलिये इन चार वर्णों का धर्म और यज्ञक्रिया करने का निषेध नहीं है। सब ही कर सकते हैं। इन चारों के लिये ब्राह्मी सरस्वती (वेदविद्या) एक सी है। ब्रह्मा ने इन्हें समान स्थिति में उत्पन्न किया है। इस पर भी यह लोभ के कारण अज्ञानी बने हैं।

भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी महाराज ने "श्रीमद्भगवद्गीता" में भी यही उपदेश दिया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों की सृष्टि गुण-कर्म के विभाग से है—

गीता का सिद्धान्त

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

(गीता अध्याय ४। श्लो० १३)

यदि जाति (वर्ण) जन्म से होती तो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र यही उपदेश करते कि ब्राह्मण क्षत्रिय आदि जन्म से होते हैं। परन्तु भगवान् ने साफ उपदेश दिया है कि चारों वर्ण गुण-कर्म के विभाग से बने हैं। परन्तु कितने शोक का स्थान है कि भारतवासी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र पर अटल श्रद्धा और भक्ति रखते हुये भी भगवान् के उपदेश मानने को तैयार नहीं हैं। इसका कारण यही है कि हमारी सत्शास्त्रों पर केवल कथनमात्र श्रद्धा है। आचरण रीति-रिवाजों के अनुसार है इन के हम गुलाम हो चुके हैं, और हैं और न मालूम कबतक रहेंगे।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महाराज साक्षात् अपने श्रीमुख से किये हुये उपदेश के पश्चात् ज़रूरत नहीं थी कि कोई और प्रमाण भी पेश किया जावे परन्तु यह दिखाने के लिये कि सारा साहित्य इस विचार से भरा पड़ा है, थोड़े से प्रमाणों को कथन कर के मैं इस प्रकरण को समाप्त करूंगा।

भविष्यपुराण

भविष्यपुराण के पर्व १ अध्याय ४० श्लोक ८ में ऋषि ने स्वयं ब्रह्माजी से प्रश्न किया है कि क्या जन्म से ब्राह्मण होता है या पढ़ने से या देह या आत्मा या संस्कार या आचार या कर्म से ? इस प्रश्न का विस्तारपूर्वक ब्रह्माजी ने उत्तर दिया है। वह अध्याय ४० से प्रारम्भ होकर अध्याय ४४ में समाप्त हुआ है। ब्रह्माजी ने ऐसा युक्तियुक्त उत्तर दिया है कि उसके पढ़ने से पूर्ण शांति होजाती है और इस विषय में किसी प्रकार का सन्देह शेष नहीं रहता। पुस्तक बढ़ जाने के भय से मैंने उसको नकल नहीं किया और पाठकों से अनुरोध करता हूं कि वे कृपया भविष्यपुराण में ही उस प्रश्नोत्तर को पढ़के आनन्दलाभ करें। उनको पढ़ते ही विश्वास हो जावेगा कि मनुष्यमात्र एक जाति के हैं और गुण-कर्म से वह चार वर्णों में बंटे हुये हैं। आज जो भाँति भाँति की जातियां बनाई जाती हैं वे कल्पित और नितान्त झूठा हैं। इनमें कोई सार नहीं है।

जातियाँ कैसे और कब उत्पन्न हुईं ।

ऊपर लिखित सिद्धांत समझ लेने के पश्चात् अपने आप यह प्रश्न उठता है कि भारत में यह जातियां कैसे बन गई और कब से बनीं ?

यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि महाभारत के समय तक जातियां नहीं थीं। जो कुछ भी हुआ वह महाभारत के पश्चात् ही हुआ। आज से ढाई हज़ार वर्ष पहले सारा भारतवर्ष बौद्ध हो गया था। उस समय भी कोई जाति नहीं थी, यहांतक कि वर्ण और आश्रम भी मिट चुके थे। बहुत समय तक ऐसी ही दशा रही। फिर स्वामी शंकराचार्य महाराज का जन्म हुआ। उन्होंने भारतवासियों को उपदेश देकर फिर से वैदिकधर्मी बनाया और वर्ण तथा आश्रम धर्म का प्रचार किया। इससे साफ परिणाम निकलता है कि जात-पाँत का बखेड़ा स्वामी शंकराचार्य के पश्चात् आरंभ हुवा और अबतक जारी है।

अजमेरनिवासी पंडित गौरीशंकरजी ओझा पुरातत्व के अद्वितीय पंडित और 'प्राचीन लिपि-माला' नामक पुस्तक के रचयिता हैं। आपने बड़े परिश्रम से राजस्थान का इतिहास लिखा है। उसमें बड़ी खोज के साथ और प्राचीन शिलालेखों के आधार पर सिद्ध कर दिया है कि आज से ६०० वर्ष पहले तक चारों

वर्णों में विवाह सम्बन्ध होता था। इससे साफ जाहिर है कि जातिभेद ८०० वर्ष से प्रचलित हुवा है।

जातियाँ कैसे बनगईं ?

मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह अधिकार चाहता है। परन्तु प्राचीन काल में मनुष्य अपने आपको कर्त्तव्यपरायण बनाकर अधिकार प्राप्त करता था। मतलब यह है कि केवल कर्त्तव्य-पालन ही अधिकार-प्राप्ति का एकमात्र साधन था। परन्तु जब भारतवर्ष में मूर्खता ने डेरा डाला और लोग विद्याहीन और विवेकहीन होगये तो स्वार्थियों ने अपने अधिकारों की रक्षा का यह सरल उपाय किया कि ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जन्म से मानना चाहिये चाहे उसमें वह योग्यता हो या न हो। इसका नतीजा वही हुवा जो होना चाहिये था। लोग अपने कर्त्तव्यों की ओर से बिलकुल लापरवाह हो गये और निरे मूर्ख और कर्त्तव्यहीन होते चले गये। मिथ्या अभिमान बढ़ता गया। आज हम देखते हैं कि महामूर्ख होते हुये भी केवल नाम रख लेने से ही उनकी पूजा हो रही है। मैं नाम नहीं लूंगा पाठक स्वयं विचार कर अपने आस पास दृष्टि डालें। सब कुछ देखने में आ रहा है परन्तु हमने आंखें बन्द कर रक्खी हैं। हम जानते हुये भी अनजान बने बैठे हैं।

उपर्युक्त कल्पित तथा झूठे अधिकारों की रक्षा के लिये ही स्वार्थियों ने छुवाछूत नाम का किला बनाया और इस जात-पाँत और छुआछूत के गोरखधंधों में भारतवासियों को ऐसी बुरी तरह से उलझाया कि लाख प्रयत्न करने पर भी इससे निकलना कठिन हो रहा है। छुवाछूत के विषय पर एक स्वतंत्र पुस्तक लिखने का हमारा विचार है अतः यहां पर उसकी चर्चा करना व्यर्थ है।

भारतनिवासी स्वभाव से ही श्रद्धालु होते हैं। श्रद्धा कोई बुरी बात नहीं प्रत्युत एक उत्तम गुण है। परन्तु वह अन्धी श्रद्धा न हो। यदि श्रद्धा के साथ विवेक-बुद्धि न हो तो वह अंध-श्रद्धा हो जाती है। आजकल भारत में अंधश्रद्धा का ही अटल राज्य है और विवेकबुद्धि को देशनिकाला दिया जा चुका है, प्रमाणस्वरूप एक घटना ही पर्याप्त होगी।

—— o ——

जात-पाँत की एक रोमाञ्च-जनक कथा

मद्रास प्रान्त में जाति-अभिमान और उससे उत्पन्न हुई छुवाछूत चरम सीमा को पहुंच चुकी है। सन् १९२३ में एक मुक़द्दमा हुवा। उसका हाल पढ़कर छाती फट जाती है और बहुत रोकने पर भी हाय निकल जाती है। जिस आर्यजाति ने समस्त संसार को ज्ञान दिया था आज वह कैसी मूर्ख हो

गई है, उसकी बुद्धि का इस जाति-बंधन ने कैसा दिवाला निकाला है। अच्छा अब कलेजा थाम लीजिये और सुनिये—

मुन्नू स्वामी नाम के एक ब्राह्मण नामधारी की स्त्री के पेट में दर्द हुवा। रात्रि का समय था। ६ बज चुके थे। उस नाम के ब्राह्मण (पाठक क्षमा करें मुझे ऐसे मनुष्य--पशु को ब्राह्मण कहते हुये लज्जा आती है) ने विचार किया कि इस को डाक्टर से दवा दिलाना चाहिये परन्तु दुर्भाग्य से उस ग्राम का डाक्टर थिया जाति का था। मद्रास प्रान्त में थिया जाति अछूत मानी जाती है और वहां का नियम है कि थिया जाति का मनुष्य नाममात्र के ब्राह्मण से ४८ फुट दूर पर खड़ा हो। यदि वह ४४ फिट दूरी पर आजावे तो ब्राह्मण देवता भ्रष्ट हो जाते हैं। और एक दूसरे से बातचीत तो कर ही नहीं सकते।

जब ब्राह्मण देवता को यह विचार आया तो बड़ी चिन्ता में पड़े कि ऐसी दशा में क्या करना चाहिये। बहुत कुछ सोचने के बाद महाराज ने अपनी अगाध बुद्धि की सहायता से इस कठिनाई से बचने का रास्ता निकाल लिया। फौरन फीता लेकर उठ खड़े हुये।

अपने घर के बाहर दरवाजे से ४८ फिट नाप कर मैदान में एक कुर्सी रक्खी और सामने मेज लगादी। उस पर लैम्प रख दिया और डाक्टर के नाम एक चिट्ठी लिखी। उसमें

बीमारी का सब हाल लिख दिया और लिखा कि आप इस चिट्ठी की पीठ पर "नुसखा" लिखदें और ५) रु० का नोट भी चिट्ठी पर रख दिया है। यह अपनी फ़ीस में ले लेवें। इतना इन्तज़ाम कर के देवताजी डाक्टर साहिब को बुलाने को चले।

जब देवताजी डाक्टर साहिब के मकान के पास पहुंचे तो इस फ़िक्र ने आन घेरा कि मैं डाक्टर साहिब से बात तो कर ही नहीं सकता, अब पुकारूं कैसे? सोचते सोचते इस बुद्धि के भंडार ने यह निर्णय किया कि केवल डाक्टर शब्द कहने में छूत नहीं लग सकती। उसका नाम नहीं लेना चाहिये और डाक्टर कहने में कुछ हानि नहीं। यह निश्चय कर के श्रीमान् बड़े ज़ोर से पुकारने लगे-डाक्टर! डाक्टर! डाक्टर! डाक्टर साहिब ने उत्तर में कहा-कौन महाशय हैं? डाक्टर के बोलते ही श्रीमान् चुप होगये। जब कुछ उत्तर न मिला तो डाक्टर साहिब भी चुप होगये। अब ब्राह्मण फिर चिल्लाने लगा—डाक्टर! डाक्टर! डाक्टर साहिब ने फिर पूछा कि कौन है? महाराज फिर चुप होगये। तब डाक्टर साहिब समझ गये कि कोई ब्राह्मण है जो मुझ से बात नहीं कर सकता। डाक्टर साहिब नीचे आये तो देवताजी उसी वक्त ४८ फिट दूर चले गये और इधर उधर से तलाश कर के एक ईंट अपने सामने रखली और उस ईंट को सम्बोधन कर के

महाराज ने अपने श्रीमुख से इस प्रकार आज्ञा प्रदान की—देख री ईंट, तू डाक्टर से कह कि महाराज की स्त्री के पेट में दर्द है। तुम चलकर दवाई लिखदो।

डाक्टर साहिब ने कहा, चलो मैं चलता हूँ। ब्राह्मण देवता-जी आगे होलिए और डाक्टर साहिब पीछे। परन्तु रास्ते में देवताजी पीछे फिर कर देखते जाते थे कि कहीं डाक्टर ४८ फिट से कम फासले पर तो नहीं आगया है। ज्यों त्यों कर के मकान के पास पहुंचे, डाक्टर को दूर से ही इशारे से मेज कुरसी बतादी।

डाक्टर साहिब कुर्सी पर बैठ गये, चिट्ठी पढ़कर "नुसखा" लिख दिया और ५) रु० का नोट जेब में डालकर अपने घर को चल दिये।

इस घटना के दो तीन दिन पीछे वेङ्कटास्वामी नाम के एक वैसे ही नामधारी ब्राह्मण ने अदालत दीवानी में एक दावा दायर कर दिया—

"इस गांव का डाक्टर, जो थिया जाति का अछूत है मन्नू स्वामी की स्त्री की दवाई लिखने गया था। रास्ते में मेरा तालाव आता है। वह डाक्टर उस तालाव की पाल पर होकर निकला जिससे मेरा तालाब अशुद्ध होगया है। उसकी शुद्धि

में बहुत खर्चा होगा। इसलिये डाक्टर पर हर्जाने की डिगरी दी जावे।"

इस मुक़द्दमे की जवाबदही के लिये डाक्टर साहिब ने एक अंग्रेज़ बैरिस्टर को मुक़र्रर किया। वेङ्कटास्वामी का बयान हुवा। बैरिस्टर साहब ने वेङ्कटास्वामी से नीचे लिखी जिरह की। इन प्रश्नोत्तर को सुनने के लिये पहले कलेजा थाम लीजिये, फिर सुनिये—

प्रश्न—वैल वेङ्कटास्वामी ! तुम्हारे तालाब में यदि कोई ईसाई या मुसलमान स्नान करे या पानी पीलेवे तो तुम्हारा तालाब भ्रष्ट होगा ?

उत्तर—नहीं होगा

प्रश्न—वैल वेङ्कटास्वामी ! यदि तुम्हारे तालाब में कोई कौवा किसी मांस खाने वाले की झूठी हड्डी डाल देवे तो तुम्हारा तालाब भ्रष्ट हो जावेगा ?

उत्तर—नहीं होगा।

प्रश्न—वैल वेङ्कटास्वामी! यदि तुम्हारे तालाब में कोई ग्राम-शूकर पानी पी लेवे तो तालाब अशुद्ध होगा ?

उत्तर—नहीं होगा।

प्रश्न—वैल वेङ्कटा स्वामी ! यदि यह डाक्टर ईसाई या मुसलमान होजावे और फिर तुम्हारे तालाब में स्नान करे तो तालाब अशुद्ध होगा ?

उत्तर—नहीं होगा, मुसलमान और ईसाई होजावे फिर न्हावे तो कुछ हर्ज नहीं है ।

उपर्युक्त प्रश्नोत्तर के पश्चात् बैरिस्टर ने डाक्टर को सम्बोधन कर के कहा—डाक्टर साहब ! क्या आप उस हिन्दू-धर्म में रहना पसन्द करते हैं जिस में एक मनुष्य को, जो अपनी योग्यता के कारण से डाक्टर है, केवल इसलिये कि उसका जन्म एक कल्पित नीच जाति में हुवा है, बुरे से बुरे पशु-पक्षी से भी बुरा समझा जाता हो ? मेरे साथ गिरजा में चलो और ईसाई-धर्म ग्रहण कर के मनुष्य बन जाओ फिर उसी तालाब में न्हाओ, जिसकी पाल पर से निकलने पर तुम्हारे ऊपर तालाब भ्रष्ट करने की यह नालिश हुई है ।

बात सच्ची थी। डाक्टर की समझ में आगई। वह बैरिस्टर के साथ गिरजा में गया और ईसाई होगया। ईसाई होते ही वह पवित्र होगया और सब अछूतपन निकल गया।

सूचना—घटना सत्य है, नीति के विचार से नाम बदल दिये गये हैं ।

पाठकों की दृष्टि से पं० लक्ष्मीकान्त मालवीय का ताजा पत्र निकला होगा जो इन दिनों प्रायः सभी समाचार पत्रों में घूम गया है। पत्र इतना रोमांचजनक है कि हम उसका उल्लेख किये बिना नहीं रह सकते, आपने भारतभूषण पं० मदनमोहनजी मालवीय के नाम बड़े हृदयवेधक शब्दों में निम्नानुसार खुला पत्र प्रकाशित कराया है, आप लिखते हैं:—

मालवीय एक ब्राह्मण जाति है, जो कदाचित् सवासौ वर्ष हुए मालवा से आकर गंगा यमुना के तट पर बने स्थानों में बस गई है, इलाहाबाद इसका केन्द्र है। उसकी संख्या बहुत थोड़ी है, इस जाति को यह गर्व प्राप्त है कि इसमें पं० मदनमोहनजी मालवीय जैसे भद्रपुरुष ने जन्मलिया है जो हिन्दूसंगठन के जन्मदाता हैं, इस जाति में जन्म का अभिमान इतना है और इस के अनुयायी अपने रक्त की पवित्रता का इतना ध्यान रखते हैं कि वह जन्म व रक्त की दृष्टि से दूसरे ब्राह्मणों को अपने बराबर का नहीं समझते।

चूंकि मालवीय जाति की संख्या परिमित है, अतः विवाह शादियों के अवसर पर उन्हें वर कन्या की खोज करते समय अपना चुनाव बहुत ही कम लोगों में करना पड़ता है। कईबार ऐसा होता है कि उनके विवाह एक ही गोत और पिण्ड में हो जाते हैं। जिसे मनुस्मृति और दूसरे शास्त्रों में वर्जित किया

गया है ऐसे विवाहों की न केवल शास्त्रो आदि ने ही आज्ञा नहीं दी, प्रत्युत Engenics की दृष्टि से ऐसे विवाह अत्यन्त ही हानिकारक हैं। परन्तु यह बड़े दुःख की बात है कि इस प्रकार के शास्त्रों के अनुयायी पं० मदनमोहन मालवीयजी और उनके साथ सहन कर लेते हैं।

सौभाग्य या दौर्भाग्य से मैं भी इसी जाति से संबन्ध रखता हूं और मुझे पं० मदनमोहन मालवीयजी का समीप का संबन्धी होने का गौरव प्राप्त है। उनके साथ मेरा सम्बन्ध यह है कि मेरी बड़ी पुत्री उनके सब से छोटे पुत्र पं० गोविन्दकान्तजी को व्याही हुई है अब अपनी जाति में वरों की कमी के कारण मैं अपनी दूसरी कन्या के लिये कोई उपयुक्त वर न ढूंढ़ सका, अतः मैंने अपनी जाति से बाहर खोज की, सौभाग्य से मुझे अपनी अभिलाषा के अनुसार पं० रामचन्द्रजी बी. ए. मिल गए, आप देहरादून में बैरिस्टरी करते हैं, पं०जी के साथ मेरी पुत्री का विवाह हुए ४ वर्ष हो गए हैं परन्तु इस विवाह को मालवीय पण्डित, जो अपनी सज्जनता पर इतना गर्व करते हैं, सहन न कर सके और उनकी क्रोध की अग्नि भड़क उठी।

इस अपराध का दण्ड मुझे देने के अभिप्राय से मालवीय जाति के पण्डितों ने पं० मालवीयजी के सभापतित्व में पवित्र गंगा के तट पर एक सभा की और प्रस्ताव पास किये, उनमें यह

निश्चय किया गया कि मेरा कर्म्म शास्त्र विरुद्ध है और मुझे सदा के लिये बिरादरी से निकाल दिया गया और मेरे साथ सब सामाजिक संबन्ध विच्छिन्न कर दिये गए, यहांतक कि उक्त विवाह से थोड़ा ही समय पीछे मेरी माता का देहान्त हो गया और उनकी अर्थी श्मशान पहुंचाने के लिये तय्यार कीगई, ठीक उसी समय मालवीय जातिने पं० मालवीयजी के मकान पर एक सभा की और यह व्यवस्था दी गई कि इस जाति का जो मनुष्य मेरी माता की अन्त्येष्टि क्रिया में सम्मिलित होगा वह उक्त पवित्र बिरादरी में से बहिष्कृत कर दिया जायगा। यह प्रस्ताव बड़े चाव से स्वीकार किया गया और उस समय किसी मनुष्य ने मुझ से मिलने का साहस न किया, लाश २४ घण्टे पड़ी रही, मुझे अपने काने और बहरे मित्रों पर भरोसा था, वह लोग मुझे बहुत प्यार करते थे उनकी सहायतासे मैं अपनी माता की लाश ठिकाने लगासका।

मालवीय जाति के अत्याचार का एक और नमूना देखिये—मेरी स्त्री सख्त बीमार थी और मरणासन्न थी उसकी यह प्रबल इच्छा थी कि वह अपनी सबसे बड़ी लड़की को देखे, जिसका विवाह पं० मदनमोहन मालवीयजी के पुत्र से हुआ था, मालवीयजी से अपील की गई कि वह मेरी लड़की को अपनी माता से मिलने के लिये भेज दें, परन्तु इसकी कोई पर्वाह न की गई।

मैं एक और उदाहरण प्रस्तुत करना चाहता हूं, कपिलदेव मालवीय.........इस आधार पर बिरादरी से निकाल दिये गए कि उन्होंने मेरे साथ खाना खाया था, एक और महाशय भी मुझे निमंत्रण देने के अपराध में बिरादरी से बहिष्कृत कर दिये गए हैं, यही महाशय मालवीय जाति के प्रसिद्ध अभियोग में मुद्दई हैं जो इलाहाबाद के मुंसिफ साहब की अदालत में चल रहा है, आप का शुभ नाम पं० सत्यनारायण मालवीय है दूसरी ओर पं० मदनमोहन मालवीय के पुत्र पं० रमाकान्तजी मालवीय हैं।

मुझे इस बात पर गर्व है कि मेरी जाति ने पं० मदनमोहनजी मालवीय जैसा प्रबल व्यक्ति उत्पन्न किया है जो हिन्दू जाति के बिखरे तत्वों को इकट्ठा करने का भगीरथ प्रयत्न कर रहे हैं, परन्तु शुद्धि संगठन के आन्दोलन के समय में जब कि दूसरे मतों के मनुष्यों को हिन्दू बनाने का यत्न हो रहा है और अछूत को हिन्दू धर्म्म में सम्मिलित करके उन्हें समाज में ऊंचा स्थान दिया जारहा है यह आश्चर्य्यजनक बात है कि मालवीयजी एस हिन्दू संगठन के महान् नेता अपने एक निकट के सम्बन्धी को विरादरी से बाहर करने का अपराध करें और वह भी केवल इस बात पर कि उसने अपने विश्वासानुसार अपनी कन्या का विवाह एक ऐसे मनुष्य से कर दिया जो मालवीय जाति से संबन्ध नहीं रखता।

मैं अपने धर्म्म से प्रीति रखता हूं अतः मैं इस पर अभी तक दृढ हूं अन्यथा कोई मनुष्य इस बात को पसन्द न करेगा कि ऐसे धर्म्म में रहे जो अपने निरपराध अनुयायियों को दण्ड देता है।

मैंने अपनी कन्या का विवाह एक ऊंची जाति के ब्राह्मण से किया है, मैंने हिन्दूधर्म वरन् ब्राह्मणों की जाति के पास भी जाना पसन्द नहीं किया परन्तु उपरोक्त प्रस्ताव के अनुसार मैं बिरादरी से निकाल दिया गया हूं और मेरी यह अवस्था है कि नैतिक दृष्टि से मैं हिन्दुओं के साथ मेल जोल नहीं रख सकता, अब मैं और मेरा परिवार न किसी मनुष्य के साथ सम्बन्ध कर सकते हैं और न खाना खा सकते हैं। वही हिन्दूधर्म जिससे मैं इतना प्रेम रखता हूं मेरे लिये तंग होगया है, और मुझे पग २ पर ठुकरा रहा है, यह सत्य बात है कि यदि मैं इस्लाम को स्वीकार करलूं तो मेरे लिये कोई नैतिक वा धार्मिक रुकावट ऐसी न होगी जिसके कारण से मैं बड़े से बड़े मुसलमान, यहांतक कि सर अब्दुर्रहीम के साथ भी सम्बन्ध न कर सकूं.........मैं चाहूं तो मुस्तफ़ा कमालपाशा के साथ भोजन भी कर सकता हूं। परन्तु अब हिन्दू धर्म किसी जगह मुझे अपनी गोद में नहीं ले सकता, मैं अपनी कन्याओं का मुंह नहीं देख सकता और उनसे मिल-जुल नहीं सकता, यह बिल्कुल कोरे तथ्य हैं। मैं पं० माल-

वीयजी को चैलेंज देने की धृष्टता तो नहीं कर सकता, परन्तु अपने और उनके समर्थकों से सविनय निवेदन करूंगा कि यदि मैंने कोई बात अयथार्थ लिखी हो तो वह खण्डन करें। यदि ऐसा नहीं है तो क्या पं० मदनमोहन मालवीयजी और दूसरे बड़े हिन्दू नेता बतलाएंगे कि अब हिन्दू जाति में मेरी क्या स्थिति है और मेरे क्या कर्तव्य हैं ?

इस पत्र पर किसी टीका टिप्पणी की आवश्यकता नहीं, इसने विचारशील आर्य (हिन्दू) जनता में हलचल डाल दी है, डा० लक्ष्मीकान्त जैसे सुप्रतिष्ठित व्यक्ति के साथ हमारी बिरादरियां कहांतक अत्याचार कर सकती हैं, इसका ज्वलन्त उदाहरण यह पत्र है, इस घटना के साथ पं० मदनमोहन मालवीयजी का जो सम्बन्ध है उसे पढ़कर कौन जाति-हितैषी रक्त के आँसू न बहाएगा ?

वर्तमान जात-पाँत के अत्याचारों की एक और करुण-कथा पिछले दिनों बम्बई से आई थी, जहां इन्दिराबाई तांबे नामक हिन्दू रमणी ने आत्म-हत्या तक करली। क्यों ? इसलिये कि हमारी जाति ने उसे उसके हृदयेश्वर से विवाह न करने दिया, इन्दिराबाई बम्बई के एक अस्पताल में नर्स का काम करती थी, ३ वर्ष पहले उसकी देशपाण्डे नामक एक युवक से प्रीति होगई थी, दोनों परस्पर विवाह-सूत्र में बँधना चाहते थे, परन्तु नव युवक के पिता ने इस पर आपत्ति की

और उसे पूना बुला लिया, लड़की इस प्रकार अकेली रह जाना पसन्द नहीं करती थी, उसने अपने प्रेम-पात्र से बहुत कुछ कहा सुना, परन्तु युवक को पिता की आज्ञानुसार जाना ही पड़ा, इन्दिराबाई को विश्वास हो गया कि उसका प्रेमी पूना में विवाह करने जा रहा है। लड़की इस चोट को सहन न कर सकी, और उसने एक पत्र देशपाण्डे को लिखा और फिर आत्म-हत्या करली। पत्र का आशय इस प्रकार था कि, "मुझे यह कर्म्म करने में दुःख होता है। तुम्हें भी मेरे कारण से बहुत दुःख होगा, परन्तु मैंने जो कुछ किया वह मेरे वश की बात नहीं थी, परलोक में तुम मेरे पति होगे और मैं तुम्हारी पत्नी हूंगी, मुझे क्षमा करो और एक सुन्दर रमणी से विवाह करलो और खुशी से अपना जीवन व्यतीत करो।"

जात पाँत के अत्याचारों की ऐसी बीसियों घटनाएं हमारे सामने आती हैं, परन्तु यह आर्य्य जाति है कि जिसके कान पर एक भी जूं नहीं रेंगती।

आगे जात-पाँत के कुछ भयंकर परिणाम संक्षेप से लिखे जाते हैं।

सच पूछिये तो इस कुप्रथा ने भारत का सर्वनाश ही कर डाला है।

जाति-भेद के कुछ भयंकर परिणाम

(१) राष्ट्रीयता के भावों का नाश होगया।

(२) एक विशाल और शक्तिशाली प्राचीन आर्यजाति छोटे छोटे समुदायों में विभक्त होकर अत्यन्त दुर्बलावस्था को प्राप्त होगई।

(३) जात पाँत के झूठे झगड़े ने आपस की सहानुभूति को मटियामेट कर दिया।

(४) समानता का भाव नाश होकर जन्म से ऊँच नीच के विचारों ने अड्डा जमाया जिससे सात करोड़ अछूत बना दिये गये।

(५) न्याय के स्थान में अन्याय का डंका बजने लगा।

(६) भारत में जो आपस की फूट का रोना रोया जाता है उसकी जड़ भी यही जातिभेद है।

(७) छोटे छोटे समुदाय बन जाने के कारण ही बालविवाह, वृद्धविवाह और अनमेल विवाह हो रहे हैं।

(८) भारत-निवासियों के पांव में परतंत्रता की बेड़ी पड़ने का कारण जात-पाँत ही है।

(६) बहुत दिनों तक छोटे समुदाय में विवाह-सम्बन्ध होते रहने से बुद्धिहीनता उत्पन्न होगई है।

(१०) स्वराज्य प्राप्ति के रास्ते में सब से बड़ा कंटक यही जात-पाँत का अड़ंगा और अछूतपन है।

(११) विधर्मियों के अत्याचार जो आठसौ वर्ष से आर्यजाति सहन कर रही है, जातिभेद का प्रसाद है।

(१२) विधर्मियों की वृद्धि और हिन्दुओं के ह्रास का कारण यही जाति-भेद है।

(१३) जातिभेद ने ही भारतवर्ष से सब सत्य विद्याओं को देशनिकाला दिया और अन्त में वे लोग भी, जो विद्या के ठेकेदार बन बैठे थे, महामूर्ख होगये और सब बुराइयों के प्रचार के कारण बने।

(१४) शुद्धि और संगठन में यही जातिभेद रोड़ा बन रहा है।

(१५) जातिभेद ने ही भारत में व्यापार और कारीगरी का सर्वनाश कर डाला और देश कंगाल और आलसी होगया।

(१६) राजाओं, महाराजाओं, सेठों, साहूकारों में जाति-पाँति के रोग के कारण विवाह समय में चुनाव का क्षेत्र

बहुत सीमित रहता है, अतः कभी २ बहुत समीप के सम्बन्ध हो जाते हैं, इससे रक्त का यथेष्ट परिवर्तन नहीं होता, परिणामरूप ऐसे लोग प्रायः निःसन्तान रह जाते हैं, अथवा बड़े यत्न करने पर और बहुतसी आयु बीत जाने पर उनके सन्तान होती है, यही कारण है कि उनके देहावसान पर प्रायः छोटे २ बच्चे गद्दी के लिये रह जाते हैं और फिर बहुतसे झगड़े उठ खड़े होते हैं, जाति पाँतियों के जटिल जाल का एक उदाहरण तो बहुत ही भयंकर है, एक राजघराने की कन्या ३४ वर्ष की आयु तक इसलिये बिठाई गई, क्योंकि किसी बड़े राजवंश से बाहर उसका विवाह नहीं हो सकता था, आखिर एक १४, १५ वर्ष के बालक से उसका विवाह हुआ, यह कैसा अनमेल कार्य्य है, इसे पाठक खूब समझ सकते हैं।

प्रिय मित्रो! कहांतक गिनाऊं। वह कौनसा दुःख है जो जाति-भेद की कुप्रथा के कारण भारत को सहन नहीं करना पड़ा। मेरा आत्मिक विश्वास है कि तमाम ख़राबियों की जड़ जाति-भेद है।

नम्र निवेदन

अब अन्त में मैं पाठक महानुभावों से सविनय प्रार्थना करता हूं कि यदि आपकी इच्छा है कि भारतनिवासी आर्य विद्या-बुद्धि-सम्पन्न हों, धन-धान्य से पूर्ण हों, यशस्वी और बलवान् बनें, वही सुख शान्ति प्राप्त करें जो महाभारत से पूर्व हमारे पुरुषाओं को प्राप्त थी, जगत्-गुरु की खोई हुई उपाधि फिर से प्राप्त करें, स्वतंत्रता का स्वर्गीय सुख भोगें, परमपिता परमात्मा के प्यारे और सच्चे भक्त बनें तो आपका यह पहला कर्त्तव्य होना चाहिये कि आप इस कल्पित जाति-बंधन को तोड़ कर चकनाचूर कर डालें। अपने मन से इस वहम को सदा के लिये निकाल डालें। यदि आपने यह क़िला तोड़ लिया तो आप देखेंगे कि ऋद्धि, सिद्धि, विजय, लक्ष्मी सुख, शान्ति, विद्या, बुद्धि, सम्पत्ति, कीर्ति सब की सब आप के आगे हाथ बाँधे खड़ी हैं। डरो मत, हिम्मत से काम लो। परमात्मा पवित्र काम में अवश्य सहायता देते हैं। परन्तु उसको, जो कुछ करता है। मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूं कि हे परमदयालु, सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी ! हम सबको सुबुद्धि प्रदान कीजिए और कल्याण-मार्ग पर चलाइए।

ओ३म् शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

———:o:———

सूचना
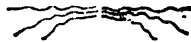
जाति-पाँति-तोड़क मण्डल नाम से एक संस्था लाहौर में क़ायम हुई है, जिसके सैकड़ों सभासद् हो चुके हैं, इस मण्डल की शाखाएँ भी संयुक्त प्रान्त तथा बम्बई आदि में स्थापित हो चुकी हैं, अब राजस्थान प्रान्त में भी उक्त मण्डल का कार्य्य आरम्भ कर दिया है। आशा है कि यहां की आर्य्य (हिन्दू) जनता भी इस मण्डल का अच्छी तरह स्वागत करेगी, मण्डल का साहित्य तथा प्रवेश-फार्म मण्डल के क़ार्य्यालय से मिल सकते हैं:--

विवाहार्थियों के लिये भी यही पता पर्य्याप्त है।

शुद्धाशुद्धिपत्रम्

पृष्ठ	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
१	३	दुखी	दुःखी
२	६	करती	कटती
६	४	सैकड़ों	सैंकड़ों
११	१८	१८००	१८०००
१३	११	पातंजलि	पतंजलि
१५	१२	का	के
१६	१८	दुखी	दुःखी
१८	६	मनुष्य	मनुष्यजाति
१८	२०	मनुष्य	मनुष्यों
२१	११	जाबाली	जबाला
२२	१४	जातिया	जातियां
२३	१४	विचार	विचारों
२४	१६	इन्द्रिय	इन्द्रियां
२५	८	श्लेषमा	श्लेष्मा
२५	६	तनु	तनुः
२५	१४	द्विजा	द्विजाः
२५	१५ १७	जीवनः	जीविनः
२६	१	इत्यतेः	इत्येतैः
३०	६	अपन	अपने
३७	१७	कन्या को	कन्या की
३८	१	शास्त्रो	शास्त्रों
४०	१३	अछूत	अछूतों
४६	१	बहुत	बहुत
४७	६	जगत्	जगद्
४८	७	दिया	दिया गया

कलेक्टर किशोरचन्द

(एक मनोरंजक और शिक्षाप्रद कहानी)

लेखक—

स्वामी ब्रह्मानन्द जी (हैदराबाद, सिंध)

प्रकाशक—

जात पाँत तोड़क मण्डल, लाहौर

१९४२

सूबेदार खरायतीराम जी ने अपनी स्वर्गीय धर्मपत्नी श्रीमती मथुरा देवी जी की पुण्य स्मृति में प्रचारार्थ यह कहानी छपाने में मण्डल को सहायता दी है।

कलेक्टर किशोर चन्द

[एक मनोरञ्जक कहानी]

किशोर और कमला बचपन से इकट्ठे पले-पुसे, इकट्ठे खेले-कूदे और अब इकट्ठे पढ़-लिख रहे थे। एक तो घर पड़ोस में था, फिर कमला की माता और किशोर की माता दोनों सहेलियाँ थीं। दोनों में सगी बहनों से भी अधिक प्रेम था। इसलिये दोनों बच्चों में परस्पर प्रेम होना स्वाभाविक ही था। दिनों के बाद महीने और महीनों के बाद वर्ष बीतते गये, और वे दोनों अब बचपन की घाटी से निकल कर युवावस्था के साम्राज्य में प्रवेश कर चुके हैं। किशोर की आयु बीस और कमला की सत्रह वर्ष हो चुकी है। दोनों बी. ए. की परीक्षा की तैयारी में संलग्न हैं। इसी से रात के ग्यारह-ग्यारह बजे तक कमला किशोर के कमरे में ही पढ़ती-लिखती रहती, और फिर उसकी माता के कमरे में जाकर सो रहती है।

बुद्धिमानों का कथन है कि युवती स्त्री के पास एकान्त में युवा पुरुष को अधिक समय तक न रहना चाहिये, चाहे वह अपनी सम्बन्धिनी ही क्यों न हो। न जाने हृदय में छिपा हुआ दानव किस समय जाग्रत हो जाय। किन्तु आज कल बहुधा व्यक्ति इन बातों की परवाह नहीं करते, और जब इसका कुपरिणाम आगे आता है, तब आश्चर्य-चकित रह जाते हैं। कहीं तो स्कूलों-कालेजों के समीप जीवित नवजात शिशु थैले में पड़ा पाया जाता है, और कहीं किसी शौचालय के समीप किसी

बच्चे का मृत शरीर पड़ा हुआ मिलता है। बाल-हत्या करने वाली लड़की और उसके माता-पिता कैद किये जाते हैं, मुकद्मे चलते हैं, सारे परिवार पर आपत्ति आ जाती है, इत्यादि। यह अब नित्य-प्रति साधारण बातें हो रही हैं और इनका आरम्भ उसी ढंग से होता है, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। अतएव वही हुआ जो होना था।

रात के ग्यारह बजे होंगे। शीतकाल की रातें, घर के सब लोग खा-पीकर सो चुके थे। कमरे का द्वार भीतर से बन्द था। किशोर के ऊपर विकार का दानव सवार हुआ। उसने कमला पर हाथ फैलाना प्रारम्भ कर दिया। कमला उसका हाथ अलग हटाती हुई बोली—प्यारे किशोर! पागल न बनो। मन को बस में बांधो। यद्यपि मैं अपना तन-मन तुम्हारे अर्पण कर चुकी हूँ, किन्तु फिर भी जब तक हमारे विवाह की प्रथा पूरी न हो जाय तब तक हमें अपने आपको बचा कर रखना ही होगा। और, फिर, मैं निर्धन माता-पिता की पुत्री हूँ और तुम धनी परिवार के हो। मैं भाईबन्द बिरादरी की हूँ, और तुम आमिल जाति के हो। सम्भव है तुम्हारे पिता जी यह विवाह न होने दें, क्योंकि वे हमें अपने से नीच समझते हैं। वे हमारे परिवार की लड़कियाँ ले तो लेते हैं, परन्तु अपनी लड़कियाँ हमारे परिवार में नहीं देते। और लेते भी तब हैं जब उन्हें सहस्रों का दहेज़ मिलता है। अतः तुम मुझसे अलग रहो। कहीं ऐसा न हो कि मैं अपना सतीत्व लुटा बैठूँ और फिर तुम्हारे साथ विवाह न हो सके, और मेरा जीवन नष्ट होजाय।

किशोर—अच्छा, तो मानों तुम्हें संदेह है कि मैं तुम्हारे

साथ विवाह न करूँगा।

कमला—कमला को अपने देवता पर पूरा भरोसा है, परन्तु डरती हूँ कि यह प्रेम-लीला कोई नया रंग न लाये। भला यदि मुझे गर्भ रह गया तो समाज क्या कहेगा?

किशोर—समाज कुछ भी बका करे, किशोर आज भी तुम्हारा है, और कल भी तुम्हारा ही रहेगा; हाँ यदि तुम्हें यह स्वीकार नहीं, तो लो, मैं अलग हो जाता हूँ।

कमला किशोर की अप्रसन्नता सहन न कर सकी और यह पद गुनगुनाते हुए उसने अपने आपको किशोर के चरणों में अर्पित कर दिया :—

हानि लाभ का ज्ञान नहीं है, फिर भी करना यह व्यापार।
पार लगाना या कि डुबाना, तुझे समर्पित हूँ करतार।

\+ + +

बी. ए. की परीक्षा का परिणाम निकला। किशोर और कमला दोनों पास हैं। उस रात को आज दो महीने हो चुके हैं। कमला को मालूम हो चुका है कि उसे गर्भ है। वह किशोर के घर गयी और उसे एकान्त में बतलाया कि देखलो अपने उस रोज़ के हठ का परिणाम। जो न होना चाहिये था, वही हुआ। अब मेरा जीवन-मरण तुम्हारे हाथ में है। देखना कहीं मुझे धोखा न देना। यह कहते हुए वह किशोर के पैरों पर गिर गयी। किशोर ने उसे उठा कर छाती से लगा लिया और धीरज देते हुए कहा—मेरे हृदय की रानी! तुम घबराओ मत। मैं तुमको वचन दे चुका हूँ। विश्वास रक्खो कि सज्जन अपने वचन का पालन करने से कभी पीछे नहीं रहते।

देखो, सुनो मेरी प्रतिज्ञा—

चन्द्र-सूर्य अपनी मर्यादा छोड़ चलें तो छोड़ चलें।
बंधु-कुटुम्बी भी अपना मुँह मोड़ चलें तो मोड़ चलें॥
माता-पिता बहिन-भ्राता भी भूल सकें तो जायें भूल।
सम्भव नहीं कि सज्जन फिर भी सत्य प्रतिज्ञा तोड़ चलें॥

अस्तु। अब तुम निश्चिन्त रहो। किशोर नीच नहीं है। अपराध मेरा है, और मैं उसके लिये कड़े से कड़ा दंड भुगतने को तैयार हूँ। जब तक मैं जीवित हूँ, तुम पर कोई आंच नहीं आ सकती। मैं आने वाली आपत्तियों के सम्मुख पर्वत की तरह अडिग खड़ा दिखलाई दूँगा।

दस-बारह दिन बाद कमला के पिता को यह बातें मालूम हो गयीं। वह जल कर अँगारा हो गया। कमला पर वज्र बन कर गिरा। उसे गालियाँ देने लगा। थप्पड़ मार मार कर उसे अधमरा कर दिया। उसे घर से बाहर करते हुए वह बोला—जाओ उसी के पास जहाँ तुम अभी तक रंग रेलियाँ मनाती रही हो। देखना, जो फिर कभी मेरे घर में पैर रक्खा।

बेचारी कमला रोती-धोती किशोर के पास पहुँची। वह उस समय अपने कमरे में बैठा इन्हीं बातों पर विचार कर रहा था। कमला ने रो रो कर अपने निकाले जाने का सब हाल कह सुनाया। किशोर ने उसे धीरज बँधाया। वह उसी समय उठकर अपने पिता जी के पास पहुँचा और उनसे कहने लगा—पिता जी, मुझसे एक बड़ा भारी अपराध हो गया है। मैं अपराधी हूँ और आपसे क्षमा-याचना करने आया हूँ। मेरा अपराध क्षमा कीजिये, और तीन जीवों को नष्ट होने से

बचाइये। यह कहकर उसने उस रात की सारी घटना सचाई के साथ पिता से कह सुनायी। आज कमला के घर से निकाले जाने की बात भी उसने पिता से कह दी और प्रार्थना की कि हम दोनों का विवाह कर दीजिये।

दीवान रत्नचंद—यह विवाह कदापि न हो सकेगा। तुम मेरे इकलौते बेटे हो। मैं तुम्हारा विवाह ऐसे घर में करना चाहता हूँ जो मेरे ही समान धनी-मानी हो। कमला के माता-पिता एक तो निर्धन हैं, और फिर बिरादरी में भी नीचे हैं।

किशोर—पिता जी, यथार्थ में तो आमिल और भाई-बंद एक ही हैं। हमारे पुरखे प्रारम्भ से ही नौकरी करते आये हैं, और आमिल कहलाने लगे हैं। उनके पुरखे व्यापारी थे, प्यार से एक दूसरे को भाई कहते थे। इसलिये वे 'भाई-बन्द' कहलाये। फिर वह किस बात में हम से नीचे हैं? हमारे पुरखे मीरों की बादशाही में दीवान थे, इसी लिये अब तक हम लोग दीवान कहलाने में अभिमान समझते हैं, यद्यपि अब हम में से एक भी किसी रियासत का दीवान नहीं है। जब हम मीरों के नौकर थे, तो उनको प्रसन्न करने के लिये तुर्की टोपी पहनते थे। जब से अँगरेज़ों के नौकर हुए हैं तब से हमने कोट, पतलून और हैट पहनना प्रारम्भ कर दिया है और नकली साहब बन बैठे हैं। हम लोग तो प्रारम्भ से ही गुलाम हैं, परन्तु भाई-बन्द स्वतन्त्र हैं। उन्होंने पहनावा नहीं बदला। वही हिन्दुस्तानी धोती, वही पगड़ी और वही कोट। अब रही धन की बात। सो हम लोगों को नियमित वेतन मिलता है, जिससे हमारी आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। परन्तु वे लोग लाखों का व्यापार करते हैं, लाखों कमाते हैं। अशिष्टता क्षमा हो, उनमें से

अनेकों इतने धनी हैं कि सारी आमिल बिरादरी को खरीद सकते हैं। कमला का पिता निर्धन है सही, परन्तु उसकी जाति हमसे नीची नहीं है।

रत्नचंद—चुप रह, चुप रह, असभ्य लड़के, बहुत मत बोल। मुझे नहीं मालूम था कि तू इतना असभ्य और मुँह-फट है। मेरे सामने ऐसी बकवाद करने का साहस करता है!

किशोर—पूज्य पिता जी, विश्वास कीजिये, किशोर असभ्य नहीं है। हाँ, यह मेरे जीवन-मरण का प्रश्न है। मुझे अपने विचार प्रकट करने की आज्ञा तो होनी ही चाहिये। मैं आप के पैरों पड़ता हूँ। आप जानते हैं कि वह गर्भवती है। यदि मैं उसके साथ विवाह न करूँगा, तो उसका जीवन विनष्ट हो जायेगा। कहीं की न रहेगी। लोग उस पर थूकेंगे। अन्त में लोगों के तानों से तंग आकर बेचारी कहीं भाग जायेगी। फिर या तो किसी विधर्मी के फंदे में फँस जायेगी, या फिर पापी पेट की ज्वाला बुझाने के लिये सतीत्व का सौदा करने लगेगी। आप कुछ तो विचार कीजिये। उसका भविष्य इस तरह बर्बाद न होने दीजिये। मुझे जो चाहे दण्ड दीजिये, किन्तु उसका जीवन बचाइये। पिता जी, दया! दया! दया!

रत्न चन्द—महामूर्ख छोकरे! उस बनिये की बेटी से विवाह करने की हठ करता है? जानता है, वह वेश्या न जाने किस किस के साथ मुँह काला कर चुकी है?

किशोर—बस पिताजी, मर्यादा का उल्लंघन मत कीजिये। अब और कुछ मुँह से मत निकालिये। वह मेरी पत्नी है। मैं उसके विरुद्ध ऐसे गंदे शब्द और न सुन सकूँगा।

रत्नचंद—अच्छा! तो निकल जा मेरे घर से। इन्हीं कपड़ों

में इसी समय। और खबरदार, जो कभी तूने मेरे घर में पैर रक्खा।

किशोर ने नम्रता से पूछा—तो क्या यह आपका अन्तिम निर्णय है?

रतनचन्द ने कहा—हाँ, अन्तिम निर्णय है। किशोर ने झुक कर पिता को प्रणाम किया और चुपचाप घर से निकल आया।

कमला यह सब बातें सुन रही थी। किशोर को आते देख कर खड़ी हो गयी। दोनों चुप-चाप घर से निकल चले। दुर्भाग्य से किशोर की माता उस समय घर पर नहीं थीं। वह कराची गयी हुई थीं। नहीं तो शायद ऐसा न होने देतीं। परन्तु होनहार तो होकर ही रहती है।

घर से निकल कर दोनोंने सलाह की कि सबसे पहले आर्य-समाज-मंदिर में चलकर विवाह कर लेना चाहिये और फिर बम्बई चले चलेंगे। लेकिन दोनों की जेबें खाली थीं। कमला ने अपनी चूड़ियां उतार कर किशोर की ओर बढ़ायीं और फिर मुस्कराती हुई बोली—दीन दुखिया पुजारिन की पहली भेंट श्री चरणों में स्वीकार हो।

किशोर को बहुत दुःख हुआ। वह नहीं चाहता था कि अपनी कमला के हाथों की चूड़ियां उसे बेचनी पड़ें। किन्तु करे भी तो क्या करे? वह उसी समय हैदराबाद के सुप्रसिद्ध शाही बाज़ार में पहुँचा, और एक सराफ़ के यहां दो सौ रुपये में चूड़ियां बेच आया। फिर दोनों आर्य-समाज-मंदिर पहुँचे। वहां विवाह के विधि-विधान में पचीस रुपये खर्च होगये। बाकी बचे पौने दो सौ। जब स्टेशन पहुँच कर किशोर बम्बई के टिकट लेने लगा तो कमला ने कहा—"रुपया बिलकुल ही कम है।

इसलिए आप तीसरे दर्जे के टिकट लीजिये।" किशोर ने उत्तर दिया कि गाड़ी में बेहद भीड़ होती है, और तुम गर्भवती हो। तुम्हें मतली और कै की भी शिकायत है। तीसरे दर्जे में तो तुम्हें पल भर भी विश्राम करने को न मिलेगा। इसलिये हम सेकेण्ड क्लास में ही चलेंगे।

कमला—यदि तीसरे दर्जे में भीड़ होती है तो इंटर का टिकट ले लीजिये। बेकार को सेकेण्ड का टिकट क्यों लेते हैं?

किशोर—मेरी रानी को कदाचित यह विदित नहीं कि इंटर केवल मारवाड़ तक है, उसके बाद केवल फ़र्स्ट, सैकण्ड और थर्ड क्लास ही बाकी रह जाते हैं। इसलिये हमें सैकेंड के ही टिकट लेने पड़ेंगे। परन्तु तुम चिन्ता क्यों करती हो? बम्बई पहुँचने और एक-दो सप्ताह वहाँ ठहरने भर को इतना रुपया पर्याप्त है। उसके बाद भगवान कोई न कोई धंधा लगा ही देंगे। और कुछ न हो सका, तो मेहनत मजदूरी कर लेंगे।

इसके बाद किशोर ने बम्बई सेण्ट्रल स्टेशन के दो टिकट खरीद लिये, और दोनों अन्दर जाकर सेकेण्ड क्लास के डिब्बे में बैठ गये। वह बिलकुल खाली था। थोड़ी देर में एक अँगरेज़ बुढ़ा भी उसी डिब्बे में आ बैठी। ५ बजकर २० मिनट पर गाड़ी ने हैदराबाद (सिंध) से प्रस्थान किया।

डिब्बे में यद्यपि छः सीटें थीं, किन्तु सवारियाँ केवल तीन थीं। यह तीसरी सवारी साठ वर्षीया महिला श्रीमती कूपर थीं। उनके पति मि० कूपर बहुत बड़े धनवान व्यक्ति हैं। अब इस दम्पति ने निश्चय किया है कि शेष जीवन अपनी मातृभूमि इंग्लैंड में चलकर बितायेंगे। श्रीमती कूपर को उन्होंने पहले भेज दिया है कि वह बम्बई पहुँच कर उनका प्रबन्ध करे। वह

स्वयं भी दूकान का माल बेचकर बम्बई में उनसे आ मिलेंगे।

गाड़ी स्टेशन से काफी दूर पहुँच चुकी है। कमला और किशोर खिड़की से गर्दन निकाल कर हैदराबाद नगर की ओर देख रहे हैं। किशोर तो अपने मन में कह रहा है—

दरो-दीवार पै हसरत से नज़र करते हैं,
खुश रहो अहले वतन हम तो सफ़र करते हैं।

परन्तु कमला घृणा-पूर्ण दृष्टि से उधर देख रही है। कुछ देर में नगर दृष्टि से ओझल होगया और दोनों अपने अपने स्थान पर जा बैठे। कमला ने अत्यन्त करुणापूर्ण स्वर में गाना प्रारम्भ किया—

उस देश में मुझको ले चल प्रभु!
उस देश में मुझको ले चल—
जहाँ जात-पाँत का ज़हर न हो,
जहाँ ऊँच-नीच का क़हर न हो,
भाई भाई से वैर न हो,
उस देश में मुझ को ले चल—
इस देश में प्रीत की रीत नहीं,
यहाँ अपनों में भी प्रीत नहीं,
जिस कौम का क़ौमी गीत नहीं
उस कौम की होगी जीत नहीं,
उस देश में मुझको ले चल प्रभु!

किशोर इससे अधिक न सुन सका। देश की निन्दा वह कैसे सुन सकता था? क्रोधित होकर बोला—कमला! तुमने बहुत बड़ा पाप किया है। जिस देश में जन्म लिया, जिसका दिया हुआ अन्न-जल खाकर तुम इतनी बड़ी हुई, उसी को

बुरा बतला रही हो।

कमला—प्राणनाथ ! मेरा देश तो स्वर्ग से भी बढ़कर है। परन्तु देश के निवासी पूरे राक्षस हैं, राक्षस। क्या हमारा-तुम्हारा अपराध इतना भारी था कि हमें घर से बाहर निकाल दिया जाता ? क्या मेरा और तुम्हारा परिवार एक ही हिन्दू जाति के भीतर नहीं है ? क्या ऊँच-नीच और अमीरी-गरीबी ने हमारे विवाह में विघ्न नहीं डाला ? तो फिर यह सब कुछ होते हुए भी मैं इस देश को कैसे अच्छा कहूँ ? हाँ, आप को प्रसन्न करने के लिये यह दासी नरक को भी स्वर्ग कहने को तैयार है। मुझे अनुमान तक न था कि इस गीत को सुनकर तुम को दुःख होगा। आप मुझे क्षमा करदें। इसके बाद दोनों अपने अपने स्थान पर लौट गये।

रात के नौ बजे गाड़ी छाड़ नामक स्टेशन से छूटी। सब सोने की तैयारी कर रहे थे। जो यात्री जहाँ था—बैठा हो या लेटा—वहीं ऊँघ रहा था। श्रीमती कूपर और कमला तो बेसुध सो रही थीं, किन्तु किशोर आँखें बन्द किये अपने भावी जीवन पर चिन्तन कर रहा था। अचानक उसने खिड़की के रास्ते किसी को भीतर कूदते हुए देखा। वह उसे देखकर दंग रह गया। एक ग्राण्डील नवयुवक। पगड़ी से अपना मुँह आधा ढँक रखा था। उसके एक हाथ में पिस्तौल था, और दूसरे से श्रीमती कूपर का अटैची केस, जो उन्होंने अपने सिर के नीचे रख छोड़ा था, खींचने को तैयार था। डाकू की पीठ किशोर की ओर थी, और वह समझ रहा था कि वे सब सोये हुए हैं। इसलिये उधर से वह बिलकुल निश्चिन्त था। किशोर ने सिंह के समान झपट कर डाकू के पिस्तौल वाले हाथ

को पकड़ा और उसे ऊपर उठा दिया, ताकि यदि वह निशाना लगाये भी तो उससे कोई हानि न हो सके। डाकू ने दूसरे हाथ की सहायता से अपने पिस्तौल वाले हाथ को नीचे लाने की कोशिश की, किन्तु वह ऐसा न कर सका। दोनों में धक्का-पेल होने लगी। किशोर यद्यपि डाकू से कुछ कमज़ोर था, फिर भी आज कल के नवयुवकों के समान सर्वथा गया-बीता भी न था। वह भी नित्य अखाड़े में जाने वाला था। इस समय अचानक संकट सामने देखकर वह अपनी पूरी शक्ति से सामना कर रहा था। इतने में दोनों स्त्रियाँ भी जग गयीं। श्रीमती कूपर तो बहुत ही घबरा गयी थीं। किन्तु कमला ने दुर्घटना की गम्भीरता को समझ लिया था। वह चाहती थी कि किसी तरह किशोर की सहायता करे। किन्तु कैसे, यह उसकी समझ में नहीं आता था। इतने में उसने देखा कि डाकू धीरे धीरे पिस्तौल वाला हाथ नीचे ला रहा है। यदि वह उसे तनिक भी और नीचे ला सका तो किशोर की कुशल नहीं। कुछ ध्यान आते ही वह तेज़ी से उठी और डाकू की पिस्तौल वाली कलाई को दांतों से काट लिया। पीड़ा से व्याकुल होने के कारण उसकी पिस्तौल हाथ से छूटकर नीचे गिर गयी। कमला ने पिस्तौल उठाली और उसकी नली डाकू की छाती पर रख कर कहा—बदमाश! दोनों हाथ पीछे कर, नहीं तो यह देख। उसने पिस्तौल के घोड़े को दबाना चाहा। डाकू ने मृत्यु का भय देखकर उसकी आज्ञा का पालन किया, और दोनों हाथ पीछे कर दिये। किशोर ने उसकी पगड़ी उतार कर उसके दोनों हाथ उससे बांध दिये। डाकू का चेहरा देखते ही श्रीमती कूपर के मुँह से चीख निकल गयी। वह बोली—कौन?

महमूद मुकरानी ! मशहूर डाकू, जो जेल से भागा हुआ है, जिसका चित्र "सिंध-आबज़र्वर" में निकला था ! बदमाश ! तुम इधर क्यों आ मरा था ?

डाकू ने उत्तर दिया—अरी बुढ़िया ! तू बड़ी ही भाग्यशाली है, नहीं तो एक लाख के जवाहरात जो तेरी इस सन्दूकची में बन्द हैं, मुझ से कभी न बचते। खेद है कि इस छोकरे ने सारा काम बिगाड़ दिया। नहीं तो अब तक न तुम होती और न तुम्हारे यह जवाहरात।

इतनी देर में कमला ने ज़ंजीर खींच कर गाड़ी खड़ी कर ली थी। पुलिस के सिपाही और गार्ड ने आकर सब बातों की पूछताछ करनी शुरू की। किशोर, कमला और श्रीमती कूपर के बयान लिख लिये गये। डाकू को हथकड़ी लगाकर पुलिस ने उसे अपने अधिकार में कर लिया। किशोर, कमला और श्रीमती कूपर दूसरे डिब्बे में जा बैठे। गाड़ी फिर चल दी। अब तो बुढ़िया किशोर पर बड़ी ही प्रसन्न थी। वह बार-बार उसे धन्यवाद देती हुई बोली—मिस्टर किशोर, आज यदि आप न होते तो मेरी हत्या हो गयी होती। आप ने बड़ी वीरता की कि अपने प्राण संकट में डाल कर मेरे प्राण बचाये। मैं तुम दोनों की बहुत ही कृतज्ञ हूँ। अच्छा, अब यह बतलाओ कि तुम दोनों बम्बई किस लिये जा रहे हो ? जान पड़ता है तुम दोनों बहुत जल्दी में घर से निकले हो। क्योंकि तुम्हारे पास न तो कुछ सामान है, और न बिस्तर। मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है। यदि कष्ट न हो तो मुझे सब वृत्तान्त कह सुनाओ। किशोर ने आदि से अन्त तक सारा वृत्तान्त सच-सच कह सुनाया। वह बोला—किशोर मेरा नाम है, और 'शहानी' उपनाम। इसलिये आप

मुझे 'शहानी' के नाम से पुकार सकती हैं।

बुढ़िया—अच्छा, तो मिस्टर और मिसेज़ शहानी! मैं तुम लोगों से एक बात कहूँ। यदि तुम मान जाओ तो मुझे असीम प्रसन्नता होगी।

किशोर—आप तो हमारी माता के समान हैं। हम आपकी आज्ञा क्यों न मानेंगे?

बुढ़िया—क्या केवल मुँह से कह रहे हो, जैसा कि कहने का रिवाज है, या सचमुच मुझे माता समझते हो?

किशोर—मैं जो कुछ भी कह रहा हूँ, सच्चे हृदय से कह रहा हूँ।

बुढ़िया—तो आज से तुम मेरे बेटे हो और कमला मेरी बहू है। मेरे कोई संतान नहीं है। मैं तुम्हारे समान बेटा पाकर बहुत ही प्रसन्न हुई हूँ। तुम वीर भी हो और विश्वासी भी। अपनी विश्वासपात्रता तुमने कमला के लिये अपने घर-बार का त्याग करके सिद्ध करदी, और वीरता मैंने अपनी आँखों देख ली है। बोलो, क्या तुम दोनों मेरी प्रार्थना स्वीकार करते हो? यदि उत्तर 'हाँ' में है, तो मेरे साथ विलायत चलना पड़ेगा। बोलो, स्वीकार है?

किशोर ने ऐसा अनुभव किया मानो भगवान् ने अपनी दया से हमें यह सहायता भेजी है। इसे अस्वीकार न करना चाहिये। उसने उठकर बुढ़िया के चरण छूकर नमस्कार किया। कमला ने भी उसका अनुकरण किया। फिर किशोर ने बतलाया कि हम हिन्दू लोग इस प्रकार अपने वृद्धजनों को प्रणाम करते हैं और वे हमें आशीर्वाद देते हैं। हम दोनों ने अपनी प्रणाली से आप को प्रणाम किया है।

श्रीमती कूपर यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुईं। उन्होंने दोनों को आशीर्वाद दिया। वह फिर बोलीं—अच्छा, अब तुम लोग मुझ से अंगरेज़ी में वार्तालाप मत किया करो। भारतीय बालकों की माता को हिन्दी भाषा अवश्य आनी चाहिये। मुझे हिन्दी अच्छी तरह आती है। इसलिये अब हम लोग आपस में इसी भाषा में बात-चीत किया करेंगे। तुम्हारे पिता (श्रीयुत कूपर) तो तुम्हारी ही तरह साफ़ बोल सकते हैं। मैं भी थोड़े दिन के अभ्यास के बाद भली भाँति बोलने लगूँगी।

समय बिताने के लिये श्रीमती कूपर ने बात-चीत का प्रसंग चालू रक्खा। वे बोलीं—हिन्दू जाति पिछले समय में तो अवश्य ही वीर और शूर थी, परन्तु अब तो एक सहस्र हिन्दुओं में मुश्किल से एक दो ऐसे मिलेंगे जो तुम्हारी तरह निडर हों। और स्त्रियों में तो लाखों में एक दो कमला जैसी निर्भय निकलेंगी।

किशोर—माता जी, आपके प्रश्न का उत्तर एक कवि ने अत्यन्त सुन्दरता के साथ दिया है। परन्तु आप कविता समझ न सकेंगी।

श्रीमती कूपर—मैं अवश्य समझ सकूंगी। तुम थोड़ा अच्छी तरह बोलना।

'बहुत अच्छा', कहकर किशोर ने अति मधुर स्वर में यह गीत गाना आरम्भ कर दिया—

कौन कहता है कि हिन्दू! अब न तू बलवान है?
कौन कहता है कि अब तेरे न तन में प्राण है?
कौन कहता है कि हिन्दू! हो रहा निस्तेज तू?
कौन कह सकता है कि वीरों की न तू सन्तान है?

बाण-विद्या के वही जौहर दिखा सकता है तू?
किन्तु हाथों में न तेरे आज तीर-कमान है।
अस्त्र-शस्त्र के बिना अब हम निकम्मे हो रहे,
धमकियाँ देता इसी से क्या हमें जापान है?
दूर हो यदि यह व्यवस्था वर्णों के बिलगाव की
देख लें फिर हम कि हम-सा कौन वीर महान है।
वर्णों के बिलगाव का विष छा रहा इस जाति में
क्या उसी से दूसरे का दास हिन्दुस्तान है?
वर्णों का बिलगाव जब तक है, न होगा संगठन;
संगठन के बिन किसी का कब हुआ कल्याण है?
ऐक्य आपस में करो अब तोड़कर यह जात-पाँत
ऐक्य-बल से ही हुआ हर देश का उत्थान है।
वर्णों का बिलगाव तज, ले सीख 'श्रद्धानन्द' की,
चाहता यदि आज तू संसार में सम्मान है।

श्रीमती कूपर—वाह-वाह! बहुत अच्छा गीत है। भला यह जात-पाँत क्या चीज़ है, जिसको इस गीत में विष बतलाया गया है? यह हिन्दू जाति में कैसे आई? यह ऐसी बुरी वस्तु है तो तुम लोग इसे छोड़ क्यों नहीं देते?

किशोर एक लँबी साँस छोड़ कर बोला—माता जी! यह बहुत लम्बी और दुःख-भरी कहानी है। इस समय आपको नींद आ रही होगी। आप सो जाइये। मैं फिर किसी दिन आपको सुनाऊँगा।

श्रीमती कूपर—नहीं बेटा! सफ़र में सोना अच्छा नहीं होता। अभी मैं इसका परिणाम देख चुकी हूँ। कमला तो सोई ही पड़ी है, और इसका सोना ही अच्छा है, क्योंकि इसकी

तबीयत ठीक नहीं है। रह गये हम दोनों। सो हम माँ-बेटा बातों बातों में ही रात बिता दें तो अच्छा रहेगा। इसलिये तुम बेशक वह कहानी सुनाओ।

किशोर—अच्छा, तो सुनिये ! न जाने हमारे पूर्वजों ने किस लिये समूची हिन्दू जाति को चार विभागों में बाँट दिया था। वे विभाग हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ब्राह्मणों का काम ठहराया गया विद्या का पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ का करना-कराना और दान का देना-लेना। क्षत्रियों को सौंप दी गई राज-काज की देख-भाल, देश में सुख-शान्ति रखना, तथा बाहरी शत्रुओं से देश की रक्षा करना। वैश्यों का काम था व्यापार करके धन-धान्य की वृद्धि करना। और शूद्रों का काम था तीनों ऊपर के वर्णों की सेवा करना। इस विभाजन का नाम उन्होंने 'वर्ण-व्यवस्था' रखा था। यह एक प्रारम्भिक भूल थी जिसने हिन्दू-जाति को इतना दुर्बल बना दिया कि अब वह किसी का सामना नहीं कर सकती। यदि किसी बड़ी नदी को छोटी छोटी अनेक नहरों में विभक्त कर दिया जाय, तो उसमें वह शक्ति नहीं रह जाती जिसके द्वारा वह सैकड़ों चट्टानों को उखाड़ फेंकती है। न उसमें बड़े बड़े जलयान चल सकते हैं। इसी तरह यदि किसी मोटी रस्सी को चार भागों में बाँट दिया जाय, अर्थात् यदि उसकी चारों डोरियाँ (जिन से मिल कर वह इतनी सुदृढ़ बनी थी) पृथक् पृथक् करदी जायें, तो उनमें वह दृढ़ता नहीं रहती, भलेही उन चारों डोरियों को मिलाकर काम में लाया जाय। कारण, जिस 'बट' ने उनको परस्पर मिलाकर उनकी दृढ़ता में वृद्धि की थी, वह अब उनमें नहीं रह गयी थी। यह तो तभी सम्भव है जब कि उन चारों में बट देकर उनसे एक रस्सी बना ली

जाय। इसी तरह हिन्दू जाति को भी पहले परस्पर प्रेम की बट द्वारा एक कर रक्खा गया था। अब उसके चार भाग कर दिये गये। इसीलिये वह बट विनष्ट हो गयी और हिन्दू-जाति दुर्बलता के गड्ढे में जा गिरी। किन्तु, यह विभाजन यहीं समाप्त नहीं हुआ। उदाहरण से आपको समझाता हूँ। वह जो ऊपर की सीट पर आपका सामान पड़ा है, उसके ऊपर सूत की एक मोटी रस्सी बँधी हुई है। यदि आज्ञा हो तो मैं थोड़ी देर के लिये उसे खोल लूँ?

श्रीमती कूपर—"हाँ, हाँ, खुशी से"।

किशोर ने उठ कर वह रस्सी खोल ली और उस की लड़ियों की ओर देख कर बोला—बहुत ही अच्छा हुआ, इस में भी चार ही लड़ियाँ हैं। उदाहरण भी चोखा ही मिला है। अच्छा आप देखिए, अपने असली रूप में यह रस्सी कितनी मज़बूत है। दुर्बल मनुष्य इसे कदापि तोड़ नहीं सकता। अब मैं इस की चारों लड़ियों को पृथक् करता हूँ। अब देखिये, यदि इन चारों लड़ियों को मिलाकर भी खींचा जाय, तो भी ये पहले से बहुत कमज़ोर हैं। ज़ोर से खींचते ही इन में से कमज़ोर सब से पहले टूटेगी और दूसरी सब, एक के बाद एक, टूटती चली जायेंगी। यह तो इनका विभाग नं० एक है। अब मैं इनका 'विभाग नं० दो' करता हूँ। अर्थात् प्रत्येक लड़ी जिन धागों से बनी है, उन सब को पृथक् पृथक् कर देता हूँ। अब देखिए प्रत्येक धागा कैसी सरलता से टूटता है। अर्थात् यह धागा जब रस्सी में था, तो इतना दृढ़ था कि तरुण मनुष्य भी इसे तोड़ न सकता था। किन्तु अब तो उसे दो वर्ष का बच्चा भी तोड़ सकता है। वे एक एक

धागे को तोड़ तोड़ कर सारी रस्सी को तोड़ देगा। ठीक इसी तरह हमारी जाति का विभाग नम्बर दो हो चुका है। ब्राह्मणों की अनेक उपजातियाँ बन चुकी हैं। जैसे—सारस्वत, गौड़, कनौजिया आदि। फिर इनमें से आगे प्रत्येक की सैकड़ों उपजातियाँ हैं। जैसे सारस्वत ब्राह्मणों की—देवगण, कालिये, रत्न आदि। इसी तरह क्षत्रिय जाति अनेक उपभागों में विभक्त हो गई है। जैसे—राजपूत, गोरखे, मराठे, खत्री इत्यादि। फिर इनमें से प्रत्येक जाति की सैकड़ों-सहस्रों उपजातियाँ हैं। जैसे, खत्री जाति की उपजातियाँ—कपूर, खन्ना, सहगल आदि। अरोड़ा एक उपजाति है, और उसकी उपजातियाँ मानना, तनेजा, गीदड़ आदि हैं। इसी तरह वैश्य और शूद्र जातियों को समझ लीजिये। इस प्रकार प्रत्येक विभाग में लगभग ३४० व्यक्ति आते हैं। यदि यह मान लिया जाय कि जाति दस सहस्र भागों में विभक्त हुई है तो प्रत्येक बिरादरी में ३४० व्यक्ति आते हैं। क्या यह थोड़े से मनुष्य किसी बड़ी जाति का सामना कर सकते? या कोई बड़ा काम करके दिखला सकते हैं? कदापि नहीं। वरन् इनके लिये तो अपना अस्तित्व स्थिर रखना भी कठिन हो जायगा।

श्रीमती कपूर—तो क्या यह लोग एक दूसरे के हाथ का खा पी लेते हैं?

किशोर—आपके प्रश्न का उत्तर हाँ भी है, और नहीं भी।

श्रीमती कूपर—भला यह क्योंकर सम्भव है?

किशोर—माताजी, इस संसार में कुछ भी असम्भव नहीं, सब कुछ हो सकता है। भारतवर्ष बहुत बड़ा देश है और

के रीति-रिवाज भिन्न भिन्न हैं। उदाहरण के लिये, पंजाब में ब्राह्मण लोग खत्री के यहाँ रोटी तो खा लेते हैं, किन्तु बेटी-बेटे का विवाह अपनी ही जाति में करते हैं। अपनी जाति का लड़का भले ही लंगड़ा, काना, गंजा अथवा असुन्दर और अशिक्षित ही क्यों न हो, फिर भी वे उसी के साथ अपनी लड़की का विवाह सम्बन्ध कर देंगे, किन्तु अन्य जाति सुन्दर, स्वस्थ और सुशिक्षित लड़का भी उन्हें अच्छा नहीं लगता। यह अवस्था ब्राह्मण से लेकर शूद्र तक सभी जातियों की है। फिर प्रत्येक जाति में ऊँच-नीच का विचार विद्यमान है। प्रत्येक खत्री अपने आप को अरोड़ा जाति से ऊँचा समझता है। फिर यदि उसकी उपजाति कपूर है, तो वह खन्ना से अपने आप को ऊँचा समझता है। उधर खन्ना अपने आपको ऊँचा तथा औरों को नीचा समझता है। यह ऊँच-नीच का कुविचार ब्राह्मण से लेकर शूद्र तक प्रत्येक जाति में मौजूद है। इस तरह के कुविचारों ने हमें आपस में एक दूसरे से पृथक् कर रक्खा है। पंजाब में तो ब्राह्मण और खत्री एक दूसरे के हाथ का खा लेते हैं, किन्तु युक्त प्रान्त में इतना भी नहीं। वहाँ तो एक ही जाति वाले एक दूसरे के हाथ का नहीं खाते। उन के विषय में कहावत प्रसिद्ध है—'आठ कनौजिये, नौ चूल्हे'। हमारे सुयोग्य नेता प० मदनमोहन मालवीय जी भी इसी कोटि के ब्राह्मणों में से हैं। वह अपनी जाति वाले ब्राह्मण के हाथ का खायेंगे, किसी अन्य जाति के ब्राह्मण का, चाहे वह कितना ही शुद्ध और सदाचारी क्यों न हो, खाना तो दूर रहा, पानी तक न पियेंगे। जब वह इतने बड़े नेता होकर भी अपने कट्टर विचार नहीं बदल सकते, तो फिर

औरों की बात का अनुमान आप स्वयं कर सकती हैं।

अब छूत-छात को लीजिये। इसमें भी एक प्रदेश का दूसरे प्रदेशसे आकाश-पाताल का अन्तर है। पञ्जाब के ग्रामों में खेती-बाड़ी करने वाले ब्राह्मण और खत्री, अपने साथ काम करने वाले भंगी से छू जाने पर, पानी का केवल एक छींटा अपने कपड़ों पर डाल लेना ही पर्याप्त समझते हैं। परन्तु मद्रास प्रान्त में ऊँची जाति वाले हिन्दू अपने मन्दिर की ओर आने वाली सड़क पर भी अछूतों को चलने नहीं देते, क्योंकि इससे मन्दिर के भ्रष्ट हो जाने का डर रहता है। इसी तरह प्रत्येक प्रदेश के शूद्रों में भी ऊँच-नीच की कसौटी भिन्न भिन्न है।

श्रीमती कूपर—तो क्या रामायण और महाभारत के युग में, जब हिन्दू जाति उन्नति के शिखर पर थी, ब्राह्मणों और क्षत्रियों में जाति के बाहर विवाह होते थे?

किशोर—जी हाँ। केवल इतना ही नहीं, वरन् उस समय हमारी जाति के लोग मनुष्य-भक्षी जातियों की भी लड़कियों से विवाह कर सकते थे। न उनको भ्रष्ट हो जाने का भय था और न नाक कट जाने की आशंका।

श्रीमती कूपर—क्या कहा, मनुष्य-भक्षी जातियों में विवाह? क्या सच मुच कभी ऐसी बात हुई है?

किशोर—जी हाँ, ऐसी घटनाएँ हुई हैं, और इनका वर्णन महाभारत में भी मिलता है। अर्जुन का बड़ा भाई भीमसेन अपने समय का महाबली था। उसका विवाह हिडिम्बा नामकी एक राक्षस लड़की से हुआ था। उसके पेट से घटोत्कच नामक वीर बालक उत्पन्न हुआ था, जिसने महाभारत-युद्ध में वह वीरता दिखलाई थी कि शत्रु भी वाह वाह कर उठे थे।

श्रीमती कूपर—किन्तु उसने अपनी जाति को छोड़कर उस भयानक जाति में क्यों विवाह किया था ?

किशोर—यह संयोग की बात थी, अन्यथा भीमसेन उसे ढूँढ़ने नहीं गया था। बात यह थी कि माता-समेत पाण्डव उन दिनों वनवास का जीवन व्यतीत कर रहे थे। एक दिन उन्हें एक जंगल में रात बितानी पड़ी। भीमसेन को पहरे पर बिठाकर चारों भाई माता-समेत सो रहे। आधी रात के समय हिडम्बा आखेट की खोज में चली कि कहीं भूला भटका यात्री मिल जाय तो पेट भरूँ। इधर से उसे मानव-गंध आरही थी। इसलिये वह इधर चली आयी। भीमसेन ने देखा कि कोई आ रहा है, उसे दूर ही रोकना चाहिये, जिससे कि युद्ध करने से सोने वालों की निद्रा-भंग न हो जाय। अस्तु, वह उठा और पचास पग आगे बढ़कर उसने हिडिम्बा का स्वागत किया। दोनों में मल्ल-युद्ध हुआ, जिसमें हिडिम्बा हार गयी। साथ ही अपना हृदय भी दे बैठी। उसने विवाह की प्रार्थना की, जिसे भीमसेन ने स्वीकार कर लिया। उसी समय अग्नि प्रज्वलित कर के दोनों ने उसकी परिक्रमा की और विवाह हो गया। ऐसे विवाह को गन्धर्व विवाह कहते हैं। यह भी उन दिनों प्रचलित था। इस में न किसी तीसरे मनुष्य की आवश्यकता होती है और न एक पाई खर्च पड़ता है। अस्तु, चुपचाप यह विवाह-संस्कार सम्पन्न हो गया। किसी को खबर तक न हुई। घर के शेष मनुष्यों को भी उस समय खबर मिली जब नई बहू ने अपने कुल्हाड़े जैसे हाथों से युधिष्ठिर और माता कुन्ता के पैर छुए।

अब ब्राह्मण लड़के से क्षत्रिय लड़की के विवाह का उदाहरण लीजिये। पाण्डवों का भाई अर्जुन जब द्रौपदी के स्वयम्बर में सम्मिलित हुआ तब वह ब्राह्मण के वेष में था। उसके

अतिरिक्त और भी अनेक ब्राह्मण वहाँ आये हुए थे। किन्तु द्रौपदी के पिता या किसी दूसरे राजा ने कभी यह आपत्ति नहीं की कि ब्राह्मण इस स्वयम्वर में क्यों सम्मिलित हो रहे हैं? ऐसा ही एक और उदाहरण रामायण-काल में मिलता है, जब कि सीता जी का स्वयम्वर हुआ था। उसमें अन्यान्य राजाओं के अतिरिक्त राजा रावण भी स्वयम्वर में सम्मिलित हुआ था, जो कि जन्म से ब्राह्मण था। यदि ब्राह्मण से क्षत्रिय लड़की के विवाह की प्रथा न होती, तो उसे क्यों सम्मिलित होने दिया जाता? अब ब्राह्मण लड़की के साथ क्षत्रिय लड़के के विवाह के उदाहरण सुनिए। राजा प्रियव्रत (क्षत्रिय) का विवाह विश्वकर्मा (ब्राह्मण) की लड़की बर्हिष्मती से हुआ था। राजा नीप का शुक्राचार्य (ब्राह्मण) की पुत्री कृत्वी से हुआ था। प्रमत्ता ब्राह्मणी का विवाह एक नाई से हुआ था। उनके पुत्र का नाम महामुनि मतङ्ग था। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में ऐसी विवाह-प्रथा थी। इतना ही नहीं, उस समय तो ब्राह्मण और क्षत्रिय शूद्रों की बालिकाओं से भी विवाह कर लेते थे। भीष्म पितामह के पिता शन्तनु ने अपना दूसरा विवाह धीवर-कन्या सत्यवती से किया था। कौरव और पाण्डव सब उसी की संतान थे। अब आप भली भाँति समझ गयी होंगी कि जिस समय हम रोटी-बेटी के सूत्र में बँधे हुए थे तब हम विजयी थे। जब से यह एकता का सूत्र टूटा, तभी से स्थान स्थान पर पराजित होते चले आ रहे हैं।

श्रीमती कूपर—तो क्या यहाँ कोई ऐसा सुधारक उत्पन्न नहीं हुआ जो जात-पाँत को तोड़ डालता?

किशोर—हुआ क्यों नहीं? कई हुए हैं, जिन्होंने इस पर आघात किया है। किन्तु न जाने यह हत्यारिन किस मिट्टी की

है कि इस पर कोई प्रभाव नहीं होता। भक्त कबीर ने इसके तोड़ने का भरसक प्रयत्न किया। उनका एक पद सुनिये—

जो तू ब्राह्मण ब्राह्मणी-जाया
और बाट काहे नहिं आया ?
तुम कत ब्राह्मण, हम कत सूद ?
हम कत लोहू, तुम कत दूध ?

अर्थात्—यदि तू सचमुच ब्राह्मण है और हम (शूद्रों) से ऊँचा है, तो किसी अन्य मार्ग से क्यों नहीं आया ? तूने हमारे ही समान जन्म क्यों लिया ? क्या हमारी नसों में लोहू और तुम्हारी नसों में दूध भरा है ? यदि नहीं, तो फिर तुम कैसे ब्राह्मण हो गये और हम कैसे शूद्र हो गये ? जैसे तुम हो वैसे ही हम हैं।

इसी तरह गुरु नानकदेव जी ने इसे तोड़ने का यत्न किया। उनका एक वाक्य है—

एक नूर से सब जग उपज्या
कौन भले कौन मन्दे ?

अर्थात्—एक ही ईश्वर से सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न हुई है। फिर कौन ऊँचा और कौन नीचा है ? उनके पश्चात् आर्य-समाज के प्रवर्त्तक ऋषि दयानन्द ने इस वर्ण-व्यवस्था को मरण-व्यवस्था कहा है। किन्तु खेद है कि उन्होंने स्पष्ट रूप से इसके विरुद्ध घोषणा करके मरती हुई हिन्दू जाति को इस डायन से नहीं बचाया।

श्रीमती कूपर—तो आज भी इसको तोड़ने का कोई यत्न हो रहा है या नहीं ?

किशोर—हाँ जी, हो रहा है। पंजाब में जात-पांत तोड़क मंडल स्थापित है, जिसका केन्द्र लाहौर में है। उसका जन्म

ही इसे तोड़ने के लिये हुआ है। वह भारी यत्न कर रहा है। मंडल का एक मासिक पत्र भी प्रकाशित होता है, जिसका नाम 'क्रान्ति है। काम तो कई वर्षों से हो रहा है, किन्तु मन्दगति से। मंडल के पास रुपये की कमी है, अन्यथा 'क्रान्ति' जैसे अनेक पत्रों की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त दो-चार साप्ताहिक पत्र भी होने चाहिएँ, जो कि नित नई चोट लगाकर इस लोहिया दीवार को चकनाचूर कर दें। किन्तु रुपये की कमी के कारण सब काम अधूरे पड़े हैं।

इस प्रकार वार्तालाप में यह यात्रा समाप्त हुई, और सब लोग बम्बई पहुँचे। वहाँ रायल होटल में ठहर कर वे मिस्टर कूपर की प्रतीक्षा करने लगे। तीन दिन बाद वे भी जल-मार्ग से आ गये। जब उन्हें श्रीमती कूपर के मुँह से सब बातें विदित हुईं तो वे बहुत ही प्रसन्न हुए। किशोर और कमला ने उन्हें प्रणाम किया, जिसपर उन्होंने उनको आशीर्वाद दिया। अगले दिन उस सारे परिवार ने जहाज़ द्वारा लण्डन के लिये प्रस्थान कर दिया।

लंडन पहुँच कर एक सप्ताह तक मिस्टर कूपर ने उन्हें खूब भ्रमण कराया, और अपने मित्रों-सम्बन्धियों से उन का परिचय कराया। तत्पश्चात् एक दिन वे किशोर से बोले—बेटा, सम्पत्ति की तो कोई कमी नहीं, किन्तु मनुष्य को हाथ पर हाथ धर कर न बैठ रहना चाहिए। सदा विद्या और कला सीखकर अपनी सम्पत्ति की वृद्धि करते रहना चाहिये। खूब धन कमाओ। उसे चाहे आप रक्खो और चाहे दान-पुण्य में लगाओ। अब यह बताओ कि तुम क्या सीखना चाहते हो?

किशोर—आपकी बहुमूल्य शिक्षाओं के लिये मैं आपका

अनुगृहीत हूँ। मैं स्वयम् आप से प्रार्थना करने जा रहा था कि यदि आप आज्ञा दें तो मैं आई. सी. एस. की परीक्षा पास कर लूँ।

मि० कूपर—हाँ हाँ, बड़ी प्रसन्नता के साथ।

दूसरे ही दिन से किशोर ने परीक्षा की तैयारी प्रारम्भ कर दी, और खूब परिश्रम करने लगा।

लंडन पहुँचने के ६ मास उपरान्त कमला के पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम नरेश रक्खा गया। एक-एक करके दिन बीतते गये। एक वर्ष बाद किशोर ने परीक्षा पास कर ली और दो मास पश्चात् उसे बम्बई प्रान्त में पूना का कलेक्टर होकर भारत जाने की आज्ञा मिल गयी। कमला और नरेश के साथ जहाज़ पर सवार हो उसने भारत के लिए प्रस्थान किया।

यद्यपि लंडन में उसे सब प्रकार का सुख प्राप्त था किन्तु जन्मभूमि अंत में जन्मभूमि है। न जाने जन्म-भूमि की मिट्टी में क्या आकर्षण होता है कि मनुष्य कहीं भी हो, उसकी पवित्र स्मृति उसे कभी नहीं भूलती। जिस देश में उसने जन्म धारण किया, जिस मिट्टी को वह बचपन में मिश्री के समान स्वादिष्ट समझ कर खाता रहा, मारपीट होने पर भी जिस मिट्टी को खाना बन्द न किया, उसे कैसे भूल जाये? मातृभूमि की मिट्टी का कण-कण इतना प्यारा होता है कि वीर आत्मा उसके लिये कट मरते हैं। अस्तु। कमला और किशोर अपनी प्यारी मातृ-भूमि के दर्शनों के लिये लालायित हो उठे। जिस समय जहाज़ में बैठे हुए उन्हें बम्बई नगर दृष्टिगोचर हुआ, उनके हृदय आनन्द-सागर में डुबकियाँ लगाने लगे। जहाज़ किनारे लगा, सामान उतरवाकर टैक्सी में रखवाया गया, और उसी रायल होटल में जाकर

ठहरे जिसमें जाते समय ठहरे थे। दो-चार दिन की सैर के बाद वे पूना पहुँचे, और वहाँ के कलेक्टर से चार्ज ले लिया।

तीन वर्ष बीत चुके हैं। इस बीच में किशोर ने वह नाम कमाया कि आजतक किसी कलेक्टर ने न कमाया था। यहाँ ही उनके घर दूसरा पुत्र उत्पन्न हुआ। उस का नाम रमेश रक्खा गया। उसके बाद उनके इच्छानुसार उन्हें सिन्ध में बदल कर हैदराबाद ज़िले का कलेक्टर नियत कर दिया गया।

जब सिंध के समाचार-पत्रों में यह सम्वाद प्रकाशित हुआ कि मि० शहानी हैदराबाद के कलक्टर होकर आ रहे हैं तो किशोर के पिता दीवान रत्नचन्द को महान् आश्चर्य हुआ। कारण, वह जानते थे कि शहानी-परिवार का कोई व्यक्ति आई. सी. एस. की परीक्षा पास करने के लिये विलायत नहीं गया है। बाक़ी रहा मेरा किशोर, सो वह बेचारा आपत्तियों का मारा, बेघर-बार, न जाने कहाँ ठोकरें खाता फिर रहा होगा। मेरे ऐसे भाग्य कहाँ कि मेरा खोया हुआ बेटा फिर मिल जाय, और फिर ऐसे प्रतिष्ठापूर्ण पद पर! नहीं नहीं, वह अभागा दर-दर की ठोकरें खाता इस संसार से उठ गया होगा, अथवा कहीं दुःख-भरा जीवन व्यतीत कर रहा होगा। मैंने भारी भूल की कि समाज के भय और ऊँच-नीच के कुविचार के कारण उसका विवाह न किया, और धक्के देकर उसे घर से बाहर निकाल दिया। ऐसा आज्ञाकारी बेटा और लक्ष्मी जैसी पुत्रवधू किसी भाग्यशाली को ही मिलते हैं। मुझे मिले, किन्तु मैंने उन्हें घर से निकाल बाहर किया। हा! मैं कितना पाषाण-हृदय, अन्यायी और पापी हूँ! ऐसा अत्याचार करने से पहले ही मुझे मौत क्यों न आ गयी!

कमला को मैं बचपन से जानता हूँ। उसका चाल-चलन सर्वथा निर्दोष था। वह किशोर से अत्यधिक प्रेम करती थी। दोनों छोटी आयु के बच्चे थे। भूल कर बैठे। वे मेरी शरण आये थे। किन्तु मैंने उनको ठोकर मारकर घर से निकाल दिया। हा! खेद, महा खेद!! भगवन् मुझ अभागे पर दया करो, और मेरे किशोर को वापस ला दो।

कुछ ही दिन में यह सम्वाद नगर भर में घर-घर फैल गया कि मि० किशोरचंद रत्नचंद शहानी यहाँ के कलेक्टर होकर आये हैं। यह सम्वाद किशोर की माता भाग्यवती के कानों तक भी पहुँचा। अब तो नगर की नारियाँ उसे बधाई देने आने लगीं। इन आने वालियों का ऐसा ताँता लगा कि सन्ध्या तक बड़ी कठिनाई से समाप्त हुआ। तत्पश्चात गाड़ी में बैठ कर वे अपने बेटे से मिलने के लिये चल पड़ीं।

संध्या के कोई सात बजे होंगे। इसी समय एक चौपहिया गाड़ी किशोर के बंगले के भीतर आकर रुकी। कमला ने दूर से ही पहचान लिया, और भीतर जाकर किशोर को यह शुभ सम्वाद सुनाया। वह यह सुनते ही छोटे से बच्चे के समान नंगे पैर बाहर भागा। उसने झुक कर माता के पैर छुए और फिर आदर-पूर्वक उन्हें अन्दर ले गया। कमला ने भी चरण छूकर उन्हें प्रणाम किया। भाग्यवती ने उसे छाती से लगा लिया और बिलख बिलख कर रोने लगी। कमला भी जी भर कर रोयी। जब दोनों का हृदय हलका हुआ तब भाग्यवती बोली—बेटी कमलावती! जो कुछ भी हुआ है, उसे भूल जाओ। मैंने इतने दिन तुम दोनों के वियोग में जिस प्रकार बिताये हैं उसे ईश्वर

ही जानता है। कमला और किशोर ने भी अपने घर छोड़ने के बाद से आज तक की राम-कहानी कह सुनाई। बात-चीत करते करते रात के बारह बज गये। अब सब लोग खा-पीकर सो रहे।

प्रातः काल भाग्यवती सब को घर ले आई।

दीवान रत्नचन्द लज्जा के मारे अपने कमरे से बाहर न निकले। किन्तु किशोर को उनके दर्शनों के बिना चैन कहाँ? वह सीधा उनके कमरे में पहुँचा और पैरों पर सिर नवा कर बोला -पिता जी, मेरा अपराध क्षमा कीजिए।

रत्नचन्द ने उसे उठाकर छाती से लगाया, उसके मस्तक को चूमा, फिर रूँधे हुए कण्ठ से कहा—बेटा, तुम सब प्रकार से निरपराध हो। तुम वीर भी हो और न्यायप्रिय भी। यदि तुम मेरे कहने से कमला का परित्याग कर देते, तो सचमुच बड़ा भारी अपराध करते। मैं डरपोक हूँ। समाज की कटूक्तियों से डर गया था। मैंने भारी पाप किया कि तुम जैसे आज्ञाकारी पुत्र को घर से बाहर निकाल दिया। मुझे क्षमा करो बेटा!

यह कहते हुए वह बच्चों के समान फूट-फूट कर रोने लगे।

किशोर ने उन्हें धीरज बँधाते हुए कहा—"पिता जी, मुझे लज्जित न कीजिये। मुझे उस दिन इतना दुःख न हुआ था, जितना आप को इस दशा में देख कर हो रहा है। होनहार होकर ही रहती है। प्रत्येक बुराई में कोई न कोई भलाई छिपी रहती है। आप दुःखी न हों।" इसके बाद उसने घर से निकलने से लेकर वापस आते तक सारा वृत्तान्त पिता के समक्ष कह सुनाया। वह बोला—आपकी उस दिनकी अप्रसन्नता भी ईश्वर की अनुकम्पा सिद्ध हुई। इससे यूरोप-भ्रमण भी हो गया, और

सम्पत्ति तथा प्रतिष्ठा भी प्राप्त हो गयी। इसके बाद वह अपनी बैठक में जाकर मित्रोंके साथ वार्तालाप में लीन हो गया।

अब कमला ने सुअवसर देखा तो ससुर के चरण छूने चली। रत्नचन्द उसे आते देख लज्जा के मारे धरती में गड़ा जाता था। किन्तु अब जाए तो कहाँ जाय? हा! एक दिन जिस सुशील लड़की को उन्होंने अकारण बुरा-भला ही न कहा था; वरन् जिसे वेश्या तक कह डाला था, आज उसीके पश्चात्ताप की आग से उनका हृदय जला जा रहा था। इतने में कमला आ पहुँची, और उनके पैर छूने को झुकी। रत्नचन्द ने अपने पैर शीघ्रता से पीछे हटालिये, और बोले—"पुत्री! मुझे मत छूना। तुम गंगा-जल के समान पवित्र हो, और मैं महापापी, अन्यायी और अत्याचारी हूँ। कमला ने सिर उनके पैरों पर रख दिया, और बोली—ऐसा न कहिये पिता जी! मुझे इससे दुःख होता है। मेरे लिये तो ये चरण तीर्थ से भी बढ़कर हैं। आप मेरे पति-देव के पिता हैं, इस लिये आप तो मेरे भगवान के भी भगवान् हैं। इन चरणों को स्पर्श करके तो मेरा जन्म सफल हो गया। मुझे खेद है कि इतने दीर्घकाल तक मैं अपने पूज्य पिता की कुछ भी सेवा न कर सकी। मेरे दुर्भाग्य ने मुझे आपकी सेवा से वंचित रक्खा।

उन नम्रता-पूर्ण वचनों से रत्नचंद के पश्चात्ताप की ज्वाला और भी तीव्र हो उठी। वे फूट-फूटकर रोते हुए बोले—बेटी कमलावती, तुम धन्य हो! तुम प्राचीन काल की सुपुत्रियों के समान हो। तुम्हारे चरण पड़ने से मेरा घर और मेरा परिवार पवित्र हो गया। मेरा अपराध क्षमा करना बेटी!

उस दिन किशोरचन्द ने अपने मित्रों को, और कमलावती ने अपनी सहेलियों को प्रीतिभोज के लिए निमंत्रण दिया। दीवान

रत्नचन्द्रने आज खुले हाथों, पानीकी तरह, पैसा खर्च किया ऐसा महत्वपूर्ण प्रीतिभोज आज तक हैदराबाद में किसी ने न देखा था। देखने वाले वाह ! वाह ! कर उठे। वह घर जो कल तक ऊजड़ सुनसान और श्मशान-सरीखा लगता था, आज स्वर्ग-धाम बन गया था। सैकड़ो स्त्रियों, पुरुषों और बच्चों ने घर की शोभा बढ़ाई थी। रात के कहीं बारह बजे यह उत्सव समाप्त हुआ।

अगले दिन प्रातः काल जब दीवान रत्नचन्द्र सोकर उठे, तो उनके दोनों पौत्र पहले ही जाग चुके थे। बड़ा पोता अपनी तोतली बोली से दादी को हँसा रहा था और छोटा अपनी चंचलता से सब का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहा था। घर की चहल-पहल पहले से सहस्रगुना हो गयी थी। किशोर के मित्रों और कमला की सहेलियों का आवागमन, बच्चों के कोलाहल में मिल कर, अनूठा आनन्द उत्पन्न कर रहा था। नित्य सवेरे सात बजे से लेकर रात के ग्यारह-बारह बजे तक आनन्द की धारा बहती रहती थी। जब रत्नचंद्र नरेश को देखता, तो उसे किशोर का बचपन याद आ जाता। वही चेहरा-मोहरा, वही चाल-ढाल। यह देख वह उसे उठाकर छाती से लगा लेता। इस प्रकार वृद्ध रत्नचंद्र और भाग्यवती बड़े आनन्द का जीवन व्यतीत कर रहे थे। किन्तु दुर्भाग्य ने उन्हें अधिक समय तक यह सौभाग्य न भोगने दिया। कुछ दिन अस्वस्थ रह कर रत्नचंद्र परलोक सिधारे। और एक महीने के बाद उनकी स्त्री ने भी उनका अनुगमन किया। किशोर को इससे हार्दिक दुःख हुआ। वह हर समय चिन्तित रहने लगा। अब यहाँ रहने को उसका चित्त न चाहता था। अब उसे अपने धर्म-पिता (मि० कूपर) और धर्ममाता (श्रीमती कूपर) का स्मरण आने लगा। उधर

मि० कूपर भी उन सब को देखने के लिये व्याकुल हो रहे थे। एक दिन किशोर को उनका तार मिला, जो उन्होंने लंडन से भेजा था। वह श्रीमती कूपर की ओर से था। उसमें लिखा था—तुम्हारे पिता बहुत अधिक बीमार हैं। वह तुम्हें, बच्चों और कमला को देखना चाहते हैं। हवाई जहाज़ द्वारा शीघ्र चले आओ।

किशोर ने तत्काल अपनी नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया। सारी सम्पत्ति एक ट्रस्ट को सौंप दी। ट्रस्ट की सम्पूर्ण आय देश, समाज और जाति की सेवा में व्यय होने लगी। वह स्वयम्, स्त्री-बच्चों समेत इँग्लेंड, चला गया। इस प्रकार हमारे समाज की कुरीतियों और कुरूढ़ियों के कारण हमारा देश किशोर जैसे सुपुत्र और कमला जैसी सुपुत्री से शून्य हो गया। भूलें मनुष्य से ही होती हैं, और इसके लिये प्रायश्चित्त भी होता है। किन्तु जो लोग दिन-रात लाखों भूलें और भयानक दुष्ट कर्म छिप कर करते हैं, किन्तु समाज के भय से औरों की एक भूल भी क्षमा नहीं करते वे समाज के सहस्रों रत्नों से हाथ धो बैठते हैं और अपनी जन-संख्या कम करने का कारण बनते हैं। अस्तु यह इसी का कुपरिणाम है।

मुद्रक—विश्वनाथ, एम.ए. आर्य प्रेस लि०, मोहनलाल रोड, लाहौर।
प्रकाशक—श्री सन्तराम, बी.ए. जात-पांत तोड़क मण्डल, लाहौर।